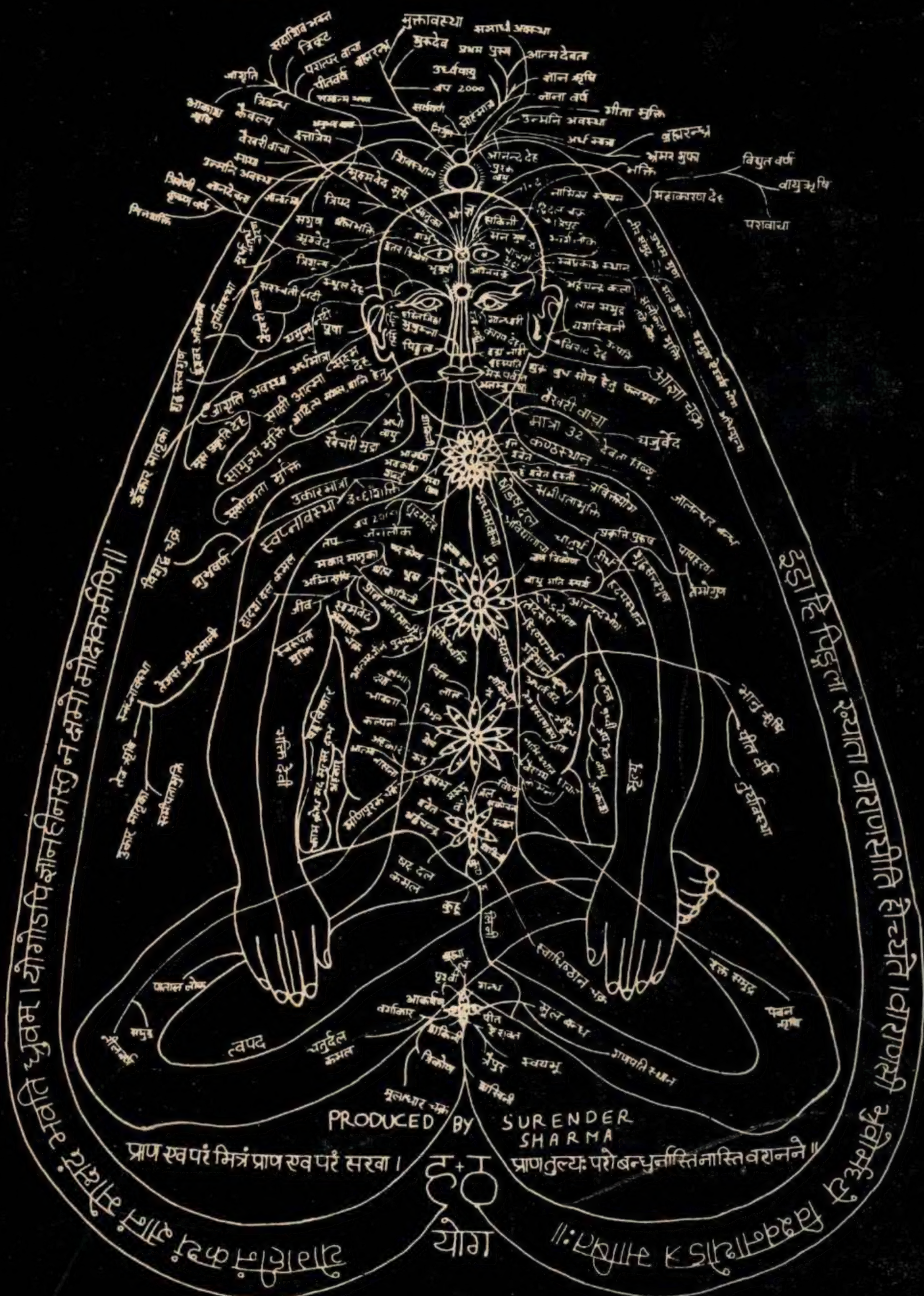
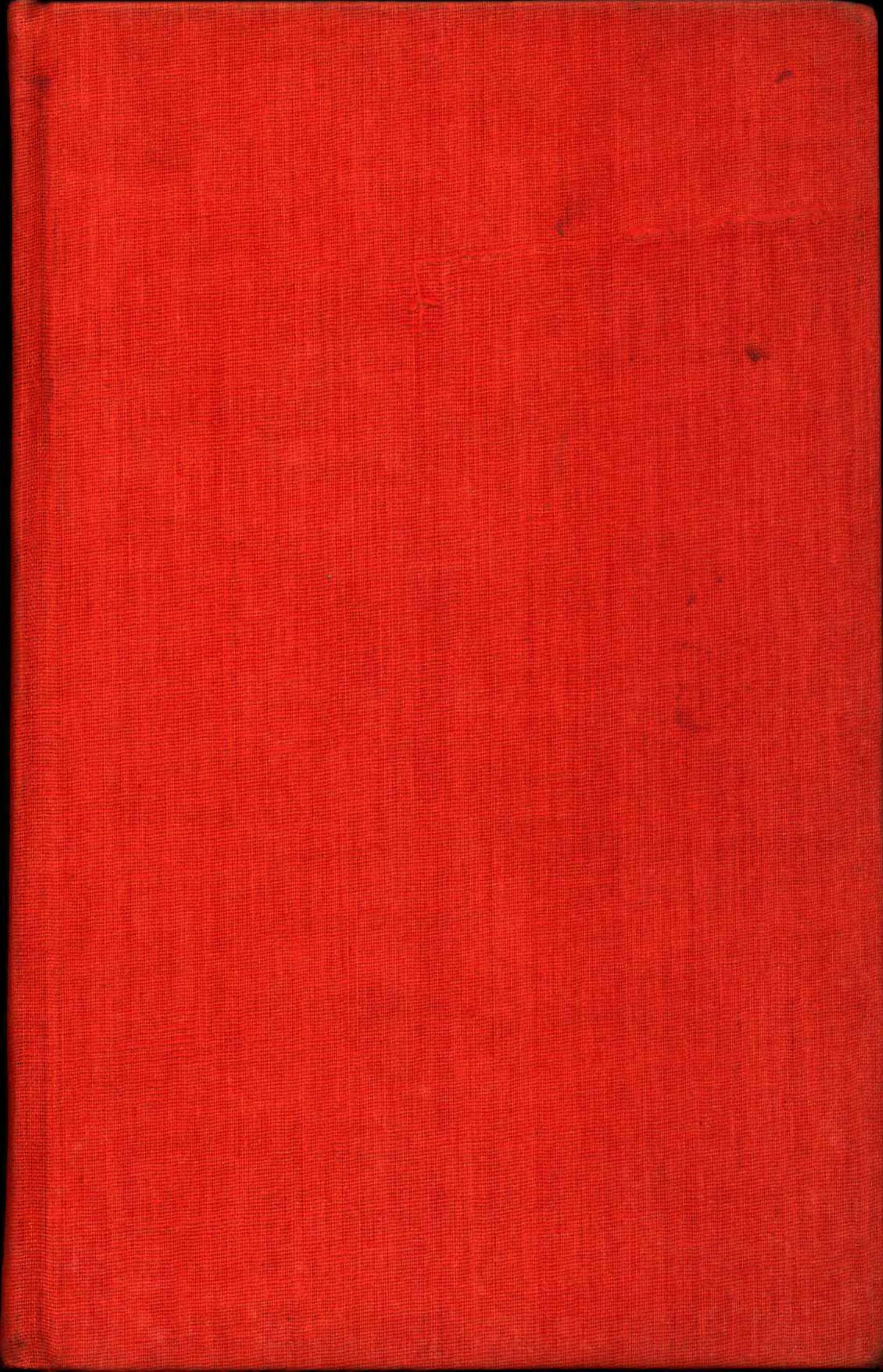
सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः



सुरेन्द्र कुमार शर्मा



बलभद्रविरचितः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक:
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १९८६
मूल्य : रु० ८०.००

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५, विजयनगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००९



कल्पान्तक्रूरकेलिः क्रतुकदनकरः कुन्दकर्पूरकान्तिः
क्रीडन्कैलासकूटे कलितकुमुदिनीकामुकः कान्तकायः ।
कङ्कालक्रीडनोत्कः कलितकलकलः कालकालीकलत्रः
कालिन्दीकालकण्ठः कलयतु कुशलं कोऽपि कापालिको नः ॥

देवा दिक्पतयः प्रयात परतः खं मुञ्चताम्भोमुचः
पातालं व्रज मेदिनि प्रविशत क्षोणीतलं भूधराः ।
ब्रह्मन्नुन्नय दूरमात्मभुवनं नाथस्य नो नृत्यतः
शंभोः संकटमेतदित्यवतु वः प्रोत्सारणा नन्दिनः ॥

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम् ।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्रां च कपालकर्तृकाकराम् ॥
मुक्तकेशीं लोलजिह्वां पिबन्तीं रुधिरं मुहुः ।
चतुर्बाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत् ॥

(सङ्कलित)



पुरोवाक्

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित एवं सरस्वतीभवन टेक्सट्स (१३) वाराणसी से १९२५ ई० में प्रकाशित 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' आचार्य बलभद्र की योग विषयक एक विलक्षण कृति है जो सात उपदेशों में तान्त्रिक योगसाधना के निखिल सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत करती है। सुरेन्द्र कुमार शर्मा ने योगसाधना पर उपलभ्यमान विपुल सामग्री का मन्थन कर उसकी सहायता से परम निगूढ़ रचना सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकृत पुस्तक के रूप में हमारे समक्ष है। साधना-मार्ग के अन्वेषकों, जिज्ञासुओं एवं तन्त्रविद्या के मनीषियों को इससे परिचित कराने के लिए इन शब्दों को लिखने में मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

भारतीय निखिलवाङ्मय का मर्म अध्यात्म है चाहे वह निगम, आगम जैन या बौद्ध किसी भी परम्परा में रचित है। इसमें कोई विसम्वाद नहीं कि आध्यात्मिकता ही वास्तव में भारतीयता है। यही वह सूत्र है जो विविध प्रकार के आहार-विहार, रहन-सहन, वेष-भूषा तथा देश-भाषा आदि अनेकताओं में विभक्त समाज एवं जनमानस को एकता में पिरोये हुए है। पर यह आध्यात्मिकता कोई बाह्य वस्तु नहीं जिसका सहजरूप से साक्षात्कार किया जा सके, न ही यह कोई ऐसा तत्त्व है जो युक्ति एवं तर्क से बुद्धिगम्य हो, अपितु यह एक अनुभव का विषय है जो मात्र साधनागम्य है। इसीलिए ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों ने इसे दुरूह एवं गुरुकृपा से उपलम्भनीय बताया है। केवल इतना ही नहीं अपितु जिस किसी को भी मात्र जिज्ञासा या कुतूहल से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं क्योंकि इसके लिए संयम एवं सदाचरण सर्वथा अपेक्षित होते हैं, किसी सत्पात्र में ही इस विद्या के आधान की परम्परा रही है। अतएव इसे गुह्य माना गया है।

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में साधना के अपने विशेष प्रकार हैं पर लक्ष्य सबका एक ही है—परमतत्त्व का साक्षात्कार। अतएव उपर्युक्त चारो ही परम्पराओं में इस विषय पर रचित साहित्य उपलब्ध होता है जो यद्यपि बहुत विपुल नहीं है तथा जो भी उपलब्ध है वह विशिष्ट विद्वानों के लिए भी बोधगम्य नहीं है। अतः इस विषय पर कोई शोधकार्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना एक बड़ा ही कठिन कार्य है, विशेषतः सिद्धसिद्धान्तसंग्रह जैसी कृति के लिए जो अत्यन्त ही संक्षेप तथा साधनाविषयक पारिभाषिक पदावली में उपनिबद्ध है।

योगसिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता एक ही है जिसे चित् अर्थात् चैतन्य कहते हैं, उसी का स्फुरण निखिल-ब्रह्माण्ड है। मानव-शरीर एक ऐसी इकाई है जिसमें निखिल-ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतः कलात्मक ढंग से निहित है––

"ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा"

परम तत्त्व का ब्रह्माण्ड और पिण्ड उभयत्र सन्निहित होना ही उसकी कला है। परमपद को ही शिव और उसकी इस कला को ही शक्ति कहा गया है। योगी-साधक निजपिण्ड में व्याप्त उसी चित्-शक्ति को उद्‌बुद्ध कर निखिल-ब्रह्माण्ड में विराट्‌रूप से विद्यमान परमशिव का अनुभवात्मक साक्षात्कार करता है। इस पिण्ड में चिच्छक्ति के उद्‌बोधक कुछ स्थल विशेष हैं, जिन्हें साधनामार्ग में चक्र कहते हैं तथा इनकी संख्या नौ है। प्रथम मूलाधारचक्र सुषुम्ना के निचले छोर पर गुदा और ध्वजमूल के मध्य स्थित है और अन्तिम नवम ब्रह्मचक्र है जो पिण्ड के ऊपरी भाग कपाल प्रदेश में सहस्रदल-कमल के समान अधोमुख अवस्थित है। कुण्डलिनी मूलाधारचक्र में साढ़े-तीन कुण्डल मार कर पूँछ को मुख में देकर सोई हुई सर्पिणी के समान निश्चेष्ट बनी रहती है। उसी को जाग्रत कर नौ चक्रों में क्रमशः प्रवेश कराते हुए सहस्राधार तक पहुँचाना ही योगी का कार्य है, जिससे वह कौंधती हुई बिजली के समान सुषुम्ना मार्ग का अनुसरण करती हुई नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे गमनागमन करने लगती है और नौ चक्रों को परस्पर सम्पृक्त कर देती है। इसके परिणामस्वरूप साधक में एक ऐसी क्षमता का आविर्भाव होता है जिससे वह न केवल पिण्ड में अपितु निखिल-ब्रह्माण्ड में व्याप्त परम-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। यह क्षमता ही शक्ति है और परमतत्त्व शिव जो दोनों ही एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न होते हैं। यौगिक साधना का यही निर्गलित है।

मेरे अन्तेवासी सुरेन्द्र ने सिद्धसिद्धान्तसंग्रह की शाब्दिक व्याख्या न कर इसका एक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिससे इसके वर्ण्यविषय की सङ्गति लग जाती है और इसके व्यापक परिवेश का भी पता चल जाता है। इस प्रकार इनका यह प्रयास सर्वथा श्लाघ्य है जो एतद्विषयक जिज्ञासुओं को पूर्ण तृप्ति चाहे भले न प्रदान करे पर उनकी इस विद्या में प्रवृत्ति को सुतराम् प्रोत्साहित करता है। इस पुस्तक को पढ़कर व्यक्ति के मन में यह इच्छा जाग्रत होती है कि वह भी इस मार्ग में प्रवृत्त हो और साधना के द्वारा आत्मानुभूति करके अपने जन्म को कृतकृत्य एवं सफल बनाये।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि पाठकों को इस पुस्तक से मार्गदर्शन मिलेगा एवं साधनामार्ग में प्रवृत्ति होगी। मैं इस लघुग्रन्थ के लेखक सुरेन्द्र कुमार शर्मा को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि ये इसी प्रकार इस तन्त्रविद्या के रहस्योद्घाटन में निरन्तर लगे रहें और एक के बाद एक उत्तमोतम ग्रन्थों की रचना करें।

ब्रजमोहन चतुर्वेदी
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय दिल्ली-७

मकरसंक्रान्ति
२०४२

भूमिका

ग्रान्तरिक एवं बाह्य मलों का क्षालन क्रमशः अज्ञान के निराकरण और यौगिक-क्रिया द्वारा सम्भव है और इन्हीं दोनों का मञ्जुल समन्वय साधना सिद्धान्तों में दृष्टिगोचर होता है। इसी अत्यन्त शक्तिशाली एवं भाव-पूर्ण विचारधारा ने भारतीय सन्तों, तन्त्रों, पन्थों, धर्मों, दर्शनों एवं सम्प्रदायों के चिन्तन में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और दोनों ही प्रकार के मलों का क्षालन भारतीयों ने प्राचीन मनीषियों द्वारा परिवर्धित वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा रूपी त्रिपथगा से किया। वेदान्तादि षड् दर्शन तथा जैन और बौद्ध एवं द्वैत (शैव), द्वैताद्वैत (वीरशैव) और अद्वैत (काश्मीर शैव) दर्शनों का समावेश क्रमशः वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा में किया जाता है। ये सभी दर्शन तथा इनसे सम्बद्ध सम्प्रदाय निश्चित एवं किसी न किसी रूप में धर्म साधना की नींव पर प्रतिष्ठित हैं। इन सभी धर्म साधनाओं में आगममूलक और विशेष रूप से नाथ-योगसाधना का अपना एक अलग एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में भक्ति, ज्ञान एवं क्रिया का मनोहर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है और यह परम्परा कोई अर्वाचीन नहीं, अपितु ईसा की कई शताब्दी पूर्व से प्रवाहित होती चली आ रही है। समय, स्थान और परिवेश वश चाहे इसका नामकरण अवधूत-मत, अवधूत-सम्प्रदाय, कन-फटा-योगी, सिद्ध-मार्ग, सिद्ध-मत, योग-सम्प्रदाय और नाथ-सम्प्रदाय इत्यादि हो गया हो। इस प्रकार अनेक नामों से प्रचलित साधना-सम्प्रदाय के सिद्धों के सिद्धान्तों का संग्रह ही सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है। इस सम्प्रदाय में सिद्धान्त से अभिप्राय वादी तथा प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ न होकर सिद्धों द्वारा

व्याख्यात ही सिद्धान्त हैं ।[1] इस परम्परा में सिद्ध अथवा अवधूत वही होता है जो समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त एवं समरस में सदा स्थित हो, अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का जो लक्ष्यार्थ हो, वही अवधूत कहलाता है ।

इस प्राचीन परम्परा की लोकप्रियता महायोगी गोरक्षनाथ तथा उनके परवर्त्ती काल में अपने प्रकर्ष के चरम पर थी। केवल शुष्क चिन्तन से कल्पनातीततत्त्व के रहस्यों को समझ पाना जब असम्भव लगने लगा तो उसमें साधना पथ का मञ्जुल समन्वय किया गया। उस समय शैव और शाक्त साधनाएँ एक दूसरे में समा चुकी थीं परिणामतः शिव-शक्ति में अविनाभूत सम्बन्ध मान लिया गया। शक्ति के अभाव में शिव शव हो चले थे और शिव के अभाव में शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ। पातञ्जलयोग-दर्शन में उपलब्ध न होने वाली ब्रह्माण्ड-व्यापिनी चिद्रूपा शक्ति की स्थिति व्यष्टिपिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में एवं शिव जीव रूप में मान लिए गये। सर्वत्र ही इस सम्प्रदाय का उद्घोष होने लगा था क्योंकि इस सम्प्रदाय के सिद्धों ने मात्र दार्शनिक चिन्तन के आधार पर उपलब्ध न होने वाले तर्कातीत का ज्ञान और उत्कृष्ट साधना द्वारा पिण्ड में ही अनुभवात्मक साक्षात्कार खोज निकाला था तथा यह एक ऐसा विशिष्ट मार्ग था जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक प्रकार की परम्पराओं का समावेश लिए हुए था ।

इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों को अपने में अन्तर्भूत करते हुए इस सिद्ध-सम्प्रदाय की समस्त मूर्धन्य व्यवहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक आदर्शों का चरम लक्ष्य उस परम लक्ष्य की प्राप्ति था जो कि शाङ्कर, कपिल और पातञ्जल के अनुरूप न होकर अद्वैतवादी आगमानुसार था। सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह में उद्धृत ललितस्वच्छन्द और तत्त्वसार सदृश ग्रन्थों के उद्धरणों से यह प्रमाण और भी पुष्ट हो जाता है। इस सम्प्रदाय का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पिण्डसिद्धिसिद्धान्त महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत से भिन्न है क्योंकि "पिण्ड सिद्धि को परम पद के दर्शन का फल तथा सामरस्य की पूर्व स्थिति माना गया है, जबकि महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत का चरम लक्ष्य केवल शरीर शुद्धि तक ही है। इसे पुरुष की स्वाभाविक शुद्धि के समान नहीं माना जा सकता अतः यह प्रकृति का एक स्वाभाविक लक्षण ही रह जाता है।"[2]

---

१. सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादि-भिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः—पृ० १४

२. डॉ० गोपीनाथ कविराज, प्रस्तावना—गोरख-दर्शन पृ० ५

अवधूतों के द्वैताद्वैतविलक्षण के सिद्धान्त का परमादर्श है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा तथा जिसके लिए समरसीकरण के व्युत्थान का अभाव आवश्यक है और जो पिण्ड-संविति (देह पिण्ड का ज्ञान) के अभाव में कभी पूर्ण नहीं हो सकती। देह पिण्ड का ज्ञान चित्तविश्रान्ति के अनन्तर होता है और इसके कारण हैं स्वसंवेद्य गुरु। चित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का निराकरण तथा स्वसंवेद्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार। इस अवस्था में व्युत्थान के अभाव में परमपद का उदय फलस्वरूप स्वपिण्ड का ज्ञान अर्थात् पिण्ड सिद्धि। इस प्रकार व्यष्टि पिण्ड को भली प्रकार जान लेने पर उसका समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसक्रिया है और इसी का अभाव, अर्थात् इस क्रिया से च्युत होने का अभाव ही आत्यन्तिक निरुत्थान कहलाता है।

समष्टि ब्रह्माण्ड व्यष्टि पिण्ड में अभिव्यक्त है जो केवल चेतना के उच्चतम स्तर पर ही अनुभूत होता है क्योंकि पशु की व्यष्टि चेतना ऐन्द्रिकानुभवों तक ही सीमित रहने के कारण उसका बोध नहीं कर सकती और जब इस व्यष्टि चेतना का ऐन्द्रिकावरण हट जाता है तो स्वसंवेद्य और अत्यन्ताभासाभासकमय परमपद का उदय होता है। व्यष्टि अनुभव की समस्त सीमाओं से परे अत्यन्त उच्चतम सीमा पर अनुभूत स्वानुभवैकगम्य परम तत्त्व की प्रकाशिका पिण्डाधार शक्ति है और यही चिद्रूपा शिव का प्रापञ्चिक स्तर है। इसी महामाया का प्रसार और सङ्कोच होता है। यही चिच्छक्ति जगत् के रूप में प्रकट होती है और इसी का सङ्कोच ही शिव है। इसको हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि शिव का प्रसार शक्ति और शक्ति का संकोच शिव है। शिव-शक्ति प्रकाश और विमर्श की भाँति स्थित हैं तथा निरुत्थानावस्था में शक्ति, शिव और व्युत्थानावस्था में शिव, शक्ति हो जाते हैं। अखण्ड-आत्मावबोध ही आत्म जागरण है और अष्टांग योग एक ऐसा अनुशासित पथ जिस पर गमन कर पथिक (योगी) व्यष्टि चेतना के धरातल से ऊपर उठ जाता है उस ब्रह्माण्डातीत से एकीकरण हेतु जिसकी संस्थिति व्यष्टि पिण्ड में है।

इस प्रकार इतनी सुदीर्घ दर्शन परम्परा को कारिका पद्धति में निबद्ध करने वाले इस महान् दार्शनिक आचार्य बलभद्र का समय अद्यावधि पूर्णरूप से ज्ञात नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक कारिका से यह ज्ञात होता है कि काशी के राजा श्री कृष्णराज की आज्ञा से ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया। गोरक्षपीठाधीश्वर आचार्य महन्त अवेद्यनाथ जी ने इस ग्रन्थ

का रचनाकाल आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्वीकारा है।[1] जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका समय अट्ठारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना है।[2] किन्तु आचार्य अक्षय कुमार बनर्जी के अनुसार यह एक प्राचीन ग्रन्थ है।[3] सम्भवतः अन्तिम मत अधिक उचित प्रतीत होता है जिसकी प्रामाणिकता मूलग्रन्थ के पाठ के आधार पर भी सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह सात उपदेशों में विभक्त है जिनमें क्रमशः पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपरमपदसमरसीकरण तथा अवधूत लक्षण का प्रतिपादन है और अन्तिम सप्तम उपदेश में समस्त विवेचन का निर्गलितार्थ प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम सम्पादन परम श्रद्धेय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी ने (सन् १९२५) में किया था। इस ग्रन्थ की उपयोगिता को अनुभव करते हुए ही पुनः इसका सम्पादन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के दुर्बोध विषय का यथार्थ अवगम श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के स्निग्ध निर्देशन के कारण ही सम्भव हो सका है। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी उन्होंने ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने की कृपा की, इसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ।

मैं पूज्य गुरु आदरणीय डॉ० बलदेवराज शर्मा रीडर संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का हृदय से अनुगृहीत हूँ। यह ग्रन्थ उन्हीं की अपार कृपा व असीम स्नेह का परिणाम है।

मित्रवर हरीश कौशिक, रमण कुमार शर्मा एवं सत्यकाम शर्मा का इस कार्य में सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के श्री जे० बी० खन्ना, श्री कल्याण सिंह, श्री रघुवीर सिंह, श्री हरमिन्दर पाल और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। अन्त में प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अल्प समय में इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की कृपा की।

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

---

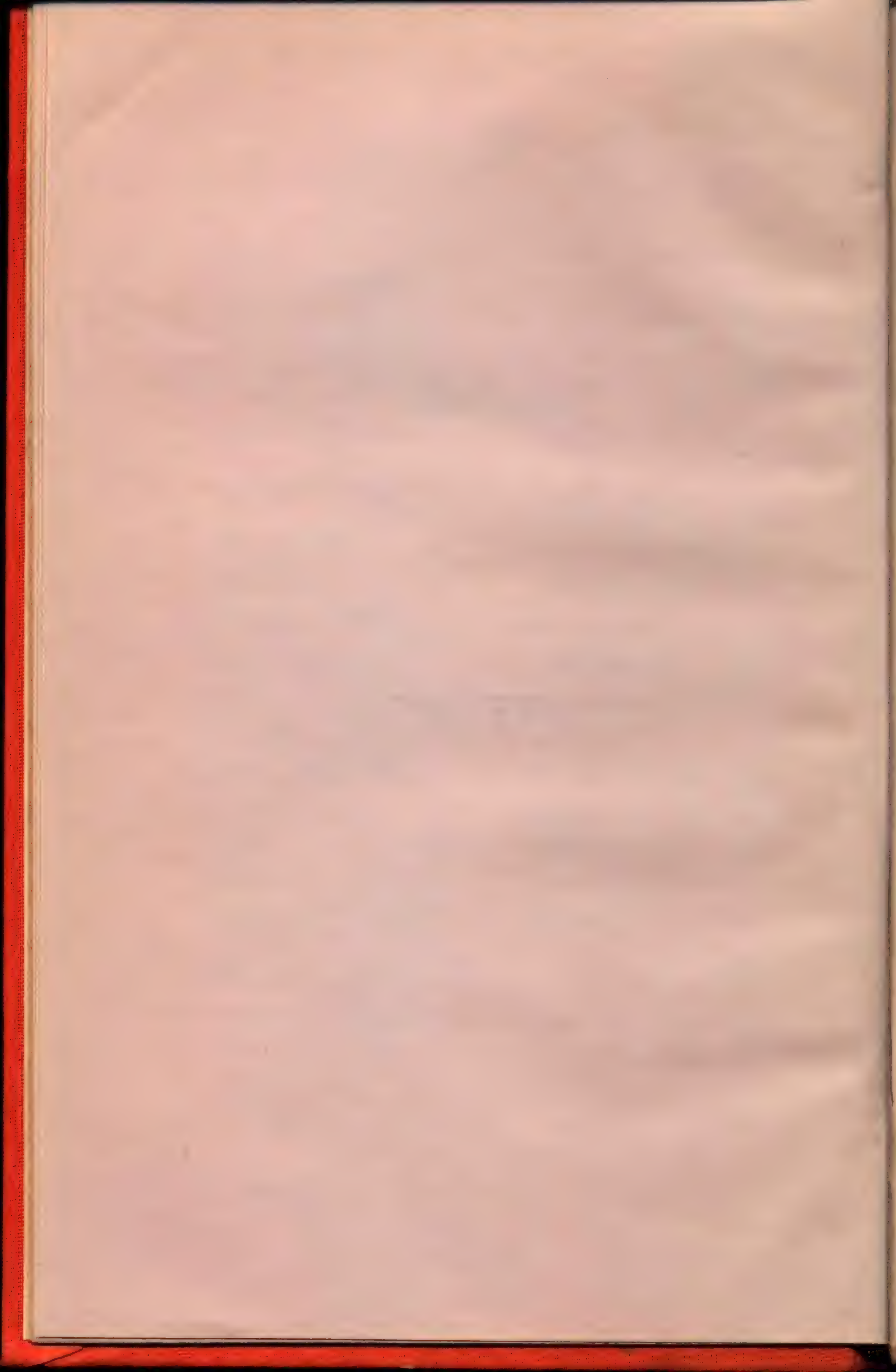
१. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—पृ० १
२. नाथ-सम्प्रदाय—पृ० १
३. गोरख-दर्शन—पृ० ३२

विषयानुक्रमणी

संकेतिका

अहि० सं०	अहिर्बुध्न्य संहिता
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
जा० द० उ०	जाबालदर्शनोपनिषद्
तैत्ति० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
पा० यो० द०	पातञ्जलयोगदर्शन
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० दर्शन	भारतीय दर्शन
भा० द० और मु० मी०	भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सि० सि० प०	सिद्धसिद्धान्तपद्धति
सि० सि० सं०	सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

प्रथम-पुष्प



प्रथमोपदेश

विचार जब बुद्धिमार्ग से उद्भूत होते हैं तो दर्शन का जन्म होता है जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होकर परम तत्त्व के अनुसन्धान पुनश्च उसके साथ सायुज्य में अवसित होता है। अनुसन्धान की इस प्रक्रिया में बुद्धि का स्पर्श होते ही तर्क का जन्म होता है परन्तु बुद्धि और तर्क की सीमा उस असीम और तर्कातीत तत्त्व का इदमित्थम् के रूप में व्याख्यान नहीं कर पाती।[1] फिर ध्यान और साधना के मार्ग से उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है[2] और जीव परम तत्त्व के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है।[3] उपनिषद् का ब्रह्म; योग का ईश्वर तथा वैष्णव और शैव तन्त्रों का परम तत्त्व इसी प्रक्रिया से साक्षात्कृत होता है।

उपनिषद् का ब्रह्म अनिर्वचनीय, अव्यय एवं नेति-नेति से अभिहित है।[4] वह परम आन्तरिक एवं बाह्य भेद रहित एकमात्र अद्वैत है।[5] वह माया शक्ति द्वारा समस्त सांसारिक नामरूपवस्तुजात में प्रकट हो रहा है।[6] इसी शक्ति द्वारा जगत् के रूप में आभासित होता है और उसी में व्याप्त है।[7]

---

१. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
—मुण्डकोपनिषद् ३।१।८

२. दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ गीता ११।८

३. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३

४. स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न गृह्यतेऽशीर्यो न शीर्यतेऽसङ्गो न सज्यतेऽसितो न व्यथ्यते न रिष्यति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्

५. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः, इत्यनुशासनम्। वही २।५।१९

६. क. इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते —वही २।५।१९
ख. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१

७. अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः —बृ० उ०

यद्यपि उपनिषदों का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म है किन्तु सगुण का भी वर्णन दृष्टिगत होता है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप और सत्यसङ्कल्पादि है।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त है कि सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म निज शक्ति द्वारा प्रयोजन रहित अनेकों वर्ण धारते हैं।[2]

'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' में यद्यपि शक्ति का समावेश निश्चित रूप से सर्वमान्य है, किन्तु आगमिक विचारधारा ने वेदों में अंकुरित एवं उपनिषदों में पल्लवित चैतन्य ब्रह्म को विशेषकर ज्ञान प्रधान न मानकर परम तत्त्व को ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूपों में समान रूप से स्वीकारा है। अर्थात् एक ही परम तत्त्व शक्ति रूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित है। वह परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है। केवल निष्क्रिय मात्र नहीं, अपितु स्पन्दशील है। वह प्रकाशात्मक होते हुए भी विमर्शात्मक है, क्योंकि केवल प्रकाशमय होता तो शिव, शक्ति रहित एवं जड़ होता।[3] और शिव-शक्ति का समन्वित रूप ही वास्तव में परम तत्त्व है।

"प्रत्येक तान्त्रिक रहस्यमयी साधना में चाहे वे ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णव) हों या ब्राह्मणेतर (बौद्धादि),—यह समान रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूलतत्त्व (प्रत्येक दृश्यमान विशेष का सामान्य रूप) दो तत्त्वों का समरस रूप है। इन दोनों पक्षों में एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक, एक निष्पन्द और दूसरा सस्पन्द, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, एक निवृत्त और दूसरा प्रवृत्त, एक प्रकाशमय और दूसरा विमर्शमय, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य, एक पुरुष और दूसरा स्त्री अर्थात् संसार के समस्त दृश्यमान द्वैतभावापन्न विशेषों को आत्मसात् करने वाले दो तत्त्वों का समरस और सामान्य रूप ही वह मूल तत्त्व है। उस निरपेक्ष परम तत्त्व में ये दोनों तत्त्व या दोनों पक्ष समरसीभूत होकर अद्वय रूप में विराजमान रहते हैं।

---

१. मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभिव्याप्तः।

—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२

२. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१

३. यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत। (परा प्रावेशिका)

इसीलिए आगम-सम्मत तमाम साधनाओं में उसके लिए अद्वय,[1] मिथुन,[2] युगनद्ध[3], यामल,[4] समरस,[5] युगल[6] अथवा सहज[7]—आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शान्त एवं सुस्थिर समुद्र की भाँति निष्पन्द पड़े हुए मूल तत्त्व के वक्षःस्थल पर उसकी स्पन्दात्मा आत्मशक्ति अपने स्पन्दमय स्वभाव को समस्त अणुओं में और अपने समरस पर दृष्टि या सृष्टि काल में विषम रह चिन्मय स्वरूप की अपेक्षाकृत सन्निहित समस्त जीवों में सदा प्रकाशित कर रही है। इस तथ्य या सत्य की पुष्टि भूतविज्ञान और प्राणि-विज्ञान भी कर रहे हैं।"[8]

यथा वट-बीज में पत्र-फलादि यहाँ तक कि समस्त वृक्ष ही समाया हुआ है, उसी प्रकार समस्त जगत्-प्रपञ्च उस परम तत्त्व में बीज रूप से विद्यमान है।[9] उसी परम तत्त्व विषयक ज्ञान की चर्चा के सन्दर्भ में यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय चिन्तकों के उस परम सत्ता विषयक चिन्तन पर हम एक सामान्य दृष्टिपात करें जिससे सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में निर्दिष्ट परम तत्त्व का स्पष्टीकरण हो सके।

परम तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परि-प्रेक्ष्य में—

१ वैष्णव दर्शनाचार्य श्री रामानुज तत्वों की परिकल्पना कर चित्

---

१. "तन्त्रालोक भाग २ अ० ३।२०३, २०४..."शिवशक्त्यद्वयात्मनि"।
२. शिवशक्तिमिथुनपिण्ड...कामकलाविलास, कारिका ५ पृ० ७
३. युगनद्ध इति ख्यातः "पञ्चक्रम"।
४. तन्त्रालोक, प्रथमाह्निक, पृ० ४ "तयोर्यद्यामलं रूपम्......"।
५. जाते समरसानन्दे... .. ...बोधसार, पृ० २००-२० ॥
६. सर्वेश्वर (पत्रिका) पृ० २८९ (वर्ष-२० अङ्क २-७)
७. श्रीकृष्णप्रसङ्ग —पृ० ३७७
८ तन्त्र और सन्त, पृ० ४०-४१ से उद्धृत।
९. क. यथा न्यग्रोधबीजस्थ शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥

—परा प्रावेशिका पृ० ११

ख. मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टवर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि-वैचित्र्यशिल्पनाकौशलवद् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम्।

—वही पृ० ११

(जीव) और अचित् (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों से युक्त ईश्वर नामक तीसरे तत्त्व की एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। क्योंकि ईश्वर इन दोनों तत्वों में अन्तर्भूत होकर रहता है। यह कल्पना श्वेताश्वतरोपनिषद् से अभिभूत है।[१] यह विशिष्टाद्वैत की विशेषता है कि इनका ब्रह्म कभी भी विशिष्टता से हीन नहीं होता। प्रलयावस्था में जीव और जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट ही रहता है।[२] यही रामानुजाचार्य का संक्षिप्त सार है।[३]

२ **माध्वमत** में विष्णु ही साक्षात् परमात्मा है,[४] जो कि अनन्तगुणपरिपूर्ण है। इनके गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। यह सत् शक्तियों से परिपूर्ण, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य, असाधारण चित् तथा किसी के द्वारा नियमित नहीं होता है।[५] भगवान् ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष का कर्ता है। इनके समस्त मत्स्यादि अवतार स्वयं में परिपूर्ण हैं।[६]

३. **निम्बार्क** मत में **ब्रह्म** सगुण तथा अविद्यास्मितादि रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। जगत् के दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर में भगवान् सबके भीतर और बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता

---

१. 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्'
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२

२. भा० दर्शन पृ० ३६०-३६२

३. समस्तचिदचिद्वस्तुशरीरायाऽखिलात्मने।
श्रीमते निर्मलानन्दोदन्वते विष्णवे नमः॥
—(रामानुजकृत वेदान्तसार)
अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने।
निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः॥ (वेदार्थसंग्रह)

४. परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादाद् इति वा भवेत्।
—ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१

५. सर्वत्राखिलसच्छक्तिः स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः।
नित्यस्तादृशचिच्चेतयन्ता इष्टो रमापतिः॥ तत्त्वोद्योत

६. भा० दर्शन पृ० ४०२-४०३

है ।[1] विष्णु ही इस चराचर जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण हैं ।[2] भगवान् नारायण स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार का सम्पादन करते हैं ।

४. **वल्लभ** मत के अनुसार ब्रह्म सर्व धर्म विशिष्ट है । शुद्धाद्वैत के इस मत में ब्रह्म माया से अलिप्त एवं नितान्त शुद्ध है । यह समस्त संसार ब्रह्म की लीलाओं का विकास मात्र है । ईश्वर जगत् का समवायिकारण है ।[3] वल्लभानुसार ब्रह्म तीन प्रकार का है—

१. आधिदैविक (परब्रह्म) २. आध्यात्मिक (अक्षरब्रह्म) और ३. आधिभौतिक (जगत्) । जगत् रूप कार्य का ब्रह्म कारण है, और कार्यकारण में अभेद होने से जगत् ब्रह्म रूप ही है । इस मत के अनुसार ब्रह्म ही जगत् के कर्ता स्वभाव से ही हैं । उनके कर्त्तापन में माया का व्यापार बिल्कुल भी नहीं होता । सृष्टि और प्रलय उनकी लीला विलास मात्र ही हैं । यह जगत् ब्रह्म रूप एवं ब्रह्म सदृश नित्य है ।[4]

५. **चैतन्य** मत अद्वैत मत के अनुरूप ही ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य मानता है । उस परम में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति होने के कारण वह नानात्मक प्रतीत होने पर भी एकात्मकता युक्त रहता है । इसी शक्ति के कारण परमात्मा मूर्त होकर भी विभु है ।[5] इस विशेष[6]

---

१. यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः ।
—सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ५३

२. जन्माद्यस्य यतः —वेदान्त पारिजात १।१।२

३. तद्ब्रह्मैव समवायिकारणम् । समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात् । अस्ति भातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात् । नामरूपयोः कार्यरूपत्वात् —अणुभाष्य १।१।३

४. भा० दर्शन पृ० ४१२-४१३

५. पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो, वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम् ।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥
—ब्रह्मसंहिता ५।४३

६. 'विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्' ।
—सिद्धान्तरत्न, पृ० २३

संज्ञक शक्ति की परिकल्पना माध्वमत से गृहीत है ।[1]

६. **पाञ्चरात्र** मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःखविहीन, अनादि और अनन्त है। त्रिविध परिच्छेद शून्य वह निर्विकारी समस्त जगत् में व्याप्त होता हुआ प्रत्येक प्राणी में निवास करता है । उभय गुण सम्पन्न यह परब्रह्म अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय लेकर ही निर्गुण से सगुण रूप में प्रकट होता है, किन्तु इन दोनों रूपों में विद्यमान रहने पर भी उसका मूल रूप एक ही है । ज्ञान स्वरूप[2] यह परब्रह्म, सर्व उपाधि विवर्जित है तथा शक्ति, ऐश्वर्य, वल, वीर्य और तेज इन पांच गुणों से युक्त अर्थात् ज्ञान समेत षड्गुण्य रूप है ।[3]

७. **श्रीमद्भागवत** मत में श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। तथा वे विशुद्ध परमार्थ रूप, परिपूर्ण और सर्वथा निर्विकार हैं। परम तत्त्व रूप भगवान् को लोग वासुदेव कहते हैं ।[4] श्रीमद्भागवत में अद्वैत का प्रतिपादन करते हुये भगवान् स्वयं कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व मैं ही था और कोई क्रिया नहीं थी । इस समस्त सृष्टि का प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूंगा ।[5]

८. **पाशुपत** मत में महेश्वर ही जगत् की सृष्टि एवं संहार का कारण हैं। पशुपति विप्र, रुद्र, ऋषि और शिव आदि इनके पर्याय हैं । स्वतन्त्र कर्त्ता

---

१. भा० दर्शन पृ० ४२०

२. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः ।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते ।। नारदपाञ्चरात्र २.५७

३. (क) सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ।।
—अहिर्बुध्न्य संहिता २।५३
(ख) एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः ।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।।
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम् ।।

४. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। भागवत १।१।११

५. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।। वही २।६-३२

शिव में ज्ञान शक्ति होने से वह परमेश्वर[1] है और क्रीड़ा हेतु जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव करता है।[2]

९. **रसेश्वर** दर्शन महेश्वर (शिव) को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करने वाले दार्शनिक ही माहेश्वर कहलाते हैं। इन माहेश्वरों में रसेश्वर का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। इस दर्शन में 'रस' (पारद)[3] को ईश्वर कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद्[4] इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे प्राप्त कर साधक आनन्द का अधिकारी बन जाता है।[5]

१०. **व्याकरण** सिद्धान्त में स्फोट रूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। व्याकरण सिद्धान्त मत में ज्ञान मात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परम तत्त्व है।[6]

११ **वीरशैव** सिद्धान्त में परम शिव नित्य स्वरूप, आद्यन्तरहित, सर्वव्यापक और सर्वशक्ति समन्वित हैं। उन्हीं से शक्ति का स्फुरण

---

१. "सार्वकामिक इत्याचक्षते" – पाशुपत सूत्र २।६
कौण्डिन्य भाष्य—'तत्र कामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादि-कार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्? कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यात एव सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वर-मपेक्षन्ते, न तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।' —वही.

२. भा० दर्शन, पृ० ४५६-४६०

३. शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले।
तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत्॥
अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत् क्रमात्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः।
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३७६

४. रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
—तैत्ति० उ० २।७।१

५. भा० दर्शन पृ० ४६३

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीय १।१

हुआ।[1] अर्थात् परशिव में अविनाभाव सम्बन्ध से वर्तमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्व रूप से परिणत होता है। इस मत में छत्तीस तत्वों की परिगणना की गई है, जिसमें मुख्य शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहङ्कार हैं। ज्ञान शक्ति से एकाकार होने पर परम शिव 'शिवतत्त्व तथा क्रिया शक्ति में लीन होने पर 'शक्ति तत्त्व' कहलाता है। शिव में अपृथक् सिद्धि विशेषण से वर्तमान शक्ति के सङ्कोच और विकास से जगत् का तिरोभाव और आविर्भाव होता है। इसी कारण इस मत में परशिव ब्रह्म 'स्थल' कहलाते हैं।[2] अर्थात् यह समस्त चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से अभिहित है। यही स्थल स्व लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है।[3] "इसी तरह लिङ्ग और अंग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। यद्यपि इन विभिन्न अङ्ग और लिङ्गों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है; परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अङ्ग नामक जीव का लिङ्ग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिङ्गांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्ति विशिष्टाद्वैत मत का सार है।"[4]

१२. शैव मत में तीन पदार्थ स्वीकृत हैं—पति (शिव) पशु (जीव) और पाश (मल, कर्म आदि अर्थपञ्चक)।[5] स्वातन्त्र्य[6] =और सर्वज्ञत्व पर शिव के असाधारण गुण हैं। शिव की सत्ता अनुभवातीत है। इसे शब्द और विचार के परे कहा गया है, अतएव यह किसी के द्वारा ज्ञात नहीं हो

---

१. यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नचासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

२ स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
यद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः।

३. (क) भा० दर्शन० पृ० ४६९
(ख) भा० द० और मु० मी० पृ० २९५

४. भा० दर्शन, पृ० ४६९

५. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः।
श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा

६. 'पत्युः स्वातन्त्र्यमेवासाधारणो धर्मः'। वही, पृ० २३

सकता।[1] मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में शिवत्व का वास है, किन्तु ये परशिव के अधीन हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोभाव और अनुग्रहकरण इन कृत्यपञ्चक के कर्त्ता साक्षात् शिव हैं।[2] शिव की दो अवस्थाएं लयावस्था और भोगावस्था हैं। शक्ति के समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल रूप मात्र में अवस्थान से शिव शक्तिमान कहलाते हैं, यही लयावस्था है और जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के निमित्त अभिमुख और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है वही शिव की भोगावस्था है।[3] इस मत में शिव को पूर्ण, असीम, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, ज्ञान स्वरूप तथा आत्म-चेतना से युक्त कहा गया है।[4] शिव की ज्ञान शक्ति संवित रूपा है, इससे वे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का ज्ञान करते हैं और दूसरी क्रिया शक्ति कुण्डलिनीरूपा है, जिससे संसार का निर्माण-कार्य सम्पादित होता है।[5]

१३. प्रत्यभिज्ञादर्शन और शाक्त दर्शन दोनों ही अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक हैं। इन दोनों के मत में एक अद्वैत परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का सामरस्य रूप है। चैतन्य स्वरूप आत्मा निर्विकार रूप से समस्त पदार्थों में अनुस्यूत हैं।[6] शिव आत्मा ही है, जिसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है।[7] इसी का नाम चैतन्य; परासंवित् और परमशिव है।

---

१. शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० ४०
२. तत्त्वप्रकाशिका, कारिका ७
३. भा० दर्शन पृ० ४७१-७२
४. शैव-सिद्धान्तदर्शन पृ० ४२
५. द्वे शक्ती समवायिन्यौ शिवे ज्ञान-क्रियात्मिके।
आद्या तु संविद्विज्ञानं क्रिया कुण्डलिनी परा॥
ज्ञानशक्त्या विजानाति क्रियया कुरुते जगत्।
क्रिया हि फलदा पुंसां न ज्ञानं स्यात्फलप्रदम्॥
—रत्नत्रयकारिका १२७-१२८
६. भा० दर्शन ४७५
७. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिनः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात् स च स्वतःसिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।
—तन्त्रालोक १।५६ टीका

परम शिव के दो रूप हैं—(१) विश्वात्मक स्वचित् शक्ति के समस्त विश्व को व्याप्त करने वाला और (२) विश्वोतीर्ण ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित। परम शिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक होते हुए भी स्व विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों का अतिक्रमण करता है। यह समस्त चराचर जगत् परम से अभिन्न और उसी का स्फुरण मात्र है।[1] विश्वोत्तीर्ण, विश्वस्वरूप परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन परम शिव का, शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त निखिल जगत् उनसे अभिन्न रूप में ही विस्फुरित होता है। ग्राह्य एवं ग्राहक, वस्तुतः और कुछ नहीं है प्रत्युत परमशिव ही अपने को विभिन्न एवं सहस्रों रूपों में प्रस्फुरित करते हैं।[2] शक्तिसम्पन्न परमशिव स्वेच्छया स्वभित्ति में, स्वाधार पर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उक्त है कि (चिति) अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है।[3] जगत् की विद्यमानता पूर्व थी, केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है।[4] उनकी ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रिया शक्ति पदार्थों का निर्माण करती है।[5]

१४. त्रिपुरा मत में ३६ तत्त्व माननीय हैं और इनसे परे एक ऐसा पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होता हुआ भी विश्व से पृथक् है। शक्ति तत्त्व

---

१. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ३

२. "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्"। वही

३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २

४. भा० दर्शन पृ० ४७५

५. क. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥

ख. अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥

—महार्थमञ्जरी सपरिमल पृ० ३९

का ही यह विश्व उन्मेष है।[1] इस मत में "महाशक्तिस्थानीया एवं अनन्त नामरूपात्मिका है। इसका स्वरूप सूक्ष्म, इन्द्रियातीत है। यह साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा एवं मोक्षप्रदायिका है।[2] शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। शिव तत्त्व में शक्ति भाव गौण और शक्ति तत्त्व में शिव भाव गौण रहता है तत्त्वातीत दशा में प्रधान गौण भाव से रहित दोनों की साम्यावस्था होती है किन्तु यही सामरस्य है। इसी को शैव परम शिव और शाक्त पराशक्ति से अभिहित करते हैं।[3] "कोटि कोटि संख्या में प्रविभक्त चराचर विश्व, उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं। वे सबके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर भासित होती हैं, बिना उनके कुछ भासित नहीं होता।[4] "प्रत्यभिज्ञादर्शन में वर्णित शिव और शक्ति तत्त्व ही त्रिपुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी तथा गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। त्रियुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य को 'सुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' के नाम से अभिहित करते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्यरूपा 'समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्रीललिताम्बिका है।"[5]

---

१. भा० दर्शन, पृ० ४८२

२. "मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्या नात्र संशयः"।

—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३८

३. (क) सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्शनिर्मलादर्शः॥

—कामकलाविलास २

(ख) सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥

—लुप्तागमसंग्रह पृ० ४१

(ग) भा० दर्शन पृ० ४८२

४. तद्भासा रहितं किञ्चिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायितं विना॥

—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३९

५. भा० दर्शन पृ० ४८२

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में परम तत्त्व एवं शक्ति तत्त्व—

आचार्य बलभद्र विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ, सिद्धसिद्धान्त पद्धति में निरूपित विषय का ही अनुमोदन करता है। प्रथमोपदेश के प्रथम श्लोक में वर्णित है कि जिनके चरणकमल की रज के स्पर्श से मन रजोगुणशून्य हो जाता है। वे ही कृपा सागर श्री गुरुनाथ मुझ पर कृपा करें। क्योंकि श्रीकृष्ण* की तुष्टि हेतु ही सिद्धसिद्धान्तपद्धति के विषय का ही संग्रह सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है।

सप्त उपदेशों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव, श्री अवधूत मत और अन्तिम उपदेश में समस्त ग्रन्थ का सार प्रस्तुत है। पिण्डोत्पत्ति विषयक ज्ञान की परिचर्चा करने से पूर्व परम तत्त्व के स्वरूप की द्योतना की गई है।[1] जहाँ वर्णित है कि समस्त सृष्टि प्रक्रिया से पूर्वकार्य-कारण और कर्तृत्व का सर्वथा अभाव एवं कुल (व्यक्त अथवा शक्तिक्रम) और अकुल (अव्यक्त, ब्रह्म की कारणता का निषेध अथवा शिव) भी नहीं था तब केवल सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित एकमात्र अव्यक्त (ब्रह्म ही विद्यमान था। अर्थात् उस अवस्था में शिव कार्य-कारण, कुल-अकुल भेद रहित अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। इसी कारण उस अवस्था का नाम 'स्वयं' है।[2] हठयोगप्रदीपिका में वर्णन है कि सृष्टि का मूल बीज एक ही है। जबकि टीकाकार ब्रह्मानन्द के अनुसार सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामक बीज है, वही मुख्य है। जैसाकि माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह जगत् ॐ अक्षर रूप है।[3] कुल और अकुल से तात्पर्य है—शक्ति और शिव। साधक को योग द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) को ऊर्ध्वगामी कर सहस्रार स्थित शिव से मिला देना चाहिए। कौल सम्प्रदाय से अभिप्राय है कि कुल से अकुल का

---

* कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तृष्यतु ॥ सि० सि० सं० ६।१७

१. वही १।१-३

२. वही १।४

३. एकं सृष्टिमयं बीजम् —हठयोगप्रदीपिका—३।५४
टीका—सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम्। तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'—वही

सम्बन्धस्थापन।[1] अतएव कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और कुल और अकुल की सामरस्य स्थिति अर्थात् समरस होना ही कौल ज्ञान है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि कुल से तात्पर्य शक्ति और अकुल से तात्पर्य शिव है। शिव को अकुल इसलिये कहा जाता है क्योंकि शिव का कोई कुल गोत्र नहीं है।[2] डा० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "कौलों में भी पूर्वकौल और उत्तरकौल—ये दो अवान्तर विभाग थे। पूर्व कौलों के मत से शिव और शक्ति आनन्दभैरव और आनन्द भैरवी नाम से परिचित हैं। इस मत से शिव और शक्ति में शेषशेषिभाव स्वीकृत है। किन्तु उत्तरकौल मत में यह स्वीकृत नहीं। उत्तरकौलों का कहना है कि शक्ति की ही सदा प्रधानता रहती है, इसलिए शक्ति कभी शेष नहीं होती। शिव तत्त्वरूप में बदलते हैं पर शक्ति सदैव तत्त्वातीत रहती है। शक्ति जब सभी कार्यात्मक प्रपञ्चों को अपने में खींच लेती है, तो उनका नामकरण होता है। इसी का पारिभाषिक नाम है 'आधारकुण्डलिनी"।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ का परम तत्त्व दो रूपों में प्रकट है जिसे परासंवित् और निजा शक्ति से अभिहित किया गया है। निजा शक्ति ही परासंवित् का एक ऐसा अभिन्न अङ्ग है जो अपने आपको विश्व-ब्रह्माण्ड के लिये प्रकट करती है। अव्यक्त परम में सिसृक्षा होने पर वह सगुण कहलाता है। और यही सिसृक्षा शक्ति है। जिसकी उत्पत्ति के साथ शिव और शक्ति दो तत्त्व

---

१. क. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

सौभाग्यभास्कर पृ० ५३

ख. 'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्यभास्कर' भाष्य में भास्करराय ने लिखा है—"कुलं सजातीयसमूहः। स च एकविज्ञानविषयत्वरूप-साजात्यापन्नज्ञातृज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्।" इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्"।

—भारतीय दर्शन पृ० ६३७

२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६७

३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त पृ० २२

हो जाते हैं, जो भिन्नता रहित हैं। परम तत्व केवल मात्र सच्चिदानन्द ही नहीं अपितु वह गतिशील है जो कि शक्ति है।

प्राचीन काल से अनवरत प्रवाहित ज्ञान गंगा के अद्वैत और द्वैत प्रधान दो तटों के मध्य प्रवाहित द्वैताद्वैतविलक्षणवाद रूपी अमृतसार ही इस मत का वास्तविक ध्येय प्रतीत होता है जिससे परम में शक्ति की स्थापना से द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण और सत्-असत् में समन्वय स्थापित हुआ। परम ही शक्ति द्वारा जगत् की विविधता में अभिव्यक्त होता है। अपनी शक्ति द्वारा समस्त जागतिक प्रपञ्च में लिप्त होता हुआ भी वह परम सर्वथा मुक्त एवं निर्लेप ही है।

इस मत में शिव स्वयं प्रकाश और अपरिवर्तनीय तो है लेकिन एक पक्ष से और दूसरे पक्ष में वह शक्ति रूप होकर जगत् में विलासवान हो रहा है। शक्तिमान् और शक्ति में अभेद सम्बन्ध है। इस शक्तिमान् की शक्ति सांख्य की प्रकृति की तरह न तो भौतिक है और न ही जड़ तथा न ही अद्वैत प्रतिपाद्य माया की तरह अनिर्वचनीया एवं मिथ्या है क्योंकि इस मत की शक्ति अद्वैत वेदान्त की माया से सर्वथा भिन्न एवं चिद्रूपिणी और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। वास्तव में जगत् इसी का परिणाम है।

इस मत का नैकट्य काश्मीर शैव दर्शन से स्पष्ट है क्योंकि इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की गई है। शक्ति को चिद्रूपिणी स्वीकार कर अद्वैत-वेदान्त से स्पष्ट मतभेद स्थापित किया गया है और परमशिव एवं शक्ति इत्यादि की परिकल्पना भी त्रिक् दर्शनानुसार ही है। द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन करने वाला यह मत परम तत्वों को द्वैत एवं अद्वैत इन दोनों से परे मानता है।

इस ग्रन्थ का विषय प्राचीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप अगर स्वीकारा जाए तो कोई दोष सम्भवतः उत्पन्न नहीं होगा। शिव धर्मी एवं शक्ति धर्म अभिन्न है क्योंकि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास स्वयं श्री बलभद्र जी ने माना है।[1] जब यह शक्ति वार्धक्य को प्राप्त करती है तब सृष्टि होती हैं और जब शिव अपनी शक्ति का सङ्कोच अर्थात् अपने में लीन

---

१. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

—सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रह ४।३७

करता है, तब सृष्टि का सङ्कोच होता है। इस प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परममुक्ति है।[१] "इस प्रसार और सङ्कोच का जो आदि और अन्त है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भङ्ग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की सङ्कोचन क्रिया के अवसान काल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्ति भाव और निराभास ही शिवभाव है। शिव, एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की उपासना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है।[२]" इस मत के परिप्रेक्ष्य में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने अनेक निर्देश दिये हैं, जिनसे पाठक गण अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं।[3]

---

१. प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगराट् शिवः ॥ वही ६।९

२. ना० सं० द० सा० प्र०, पृ० २२८-२९ के शब्द गोरक्षनाथ नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में पृ० ११७ से उद्धृत।

3. "The Supreme Ideal of yoga-Sādhanā as conceived in this school seems to differ essentially from the conceptions of Patañjali, of the earlier and some later Buddhistic systems and even to a great extent of Śaṅkara's Vedānta. Nevertheless we must observe that the Nātha ideal is analogous to what we find in the Āgamic systems of non-dualistic thought in ancient and medieval India.

This ideal is described in one word as Sāmarasya, which implies obliteration of traces of all kinds of existing differences, not by a process of transcendence as in Sāṅkhya, or of sublation as in Vedāntic Māyāvāda, but by a positive process of what may be described as mutual interpretation. This ideal underlies the principle of unification between Puruṣa and Prakṛti, or between

शक्ति का संकेत किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता आया है। चाहे वह ऋग्वेद[१] हो अथवा उपनिषद्[२] और गीता।[3] "साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गई है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी योग में कुण्डलिनी कोप में काली और समर में दुर्गा है।"[४] नाना प्रकार से अनुभूत यह समस्त जगत् प्रपञ्च वस्तुतः शक्ति का ही आत्मप्रकाश है। सुसूक्ष्म, लिङ्गात्मक और इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् शक्ति के ही विभिन्न विकास हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में विद्यमान है, वही शक्ति का परम रूप है।[५]

"ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्यथर्वशीर्ष' में भगवती की शक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। वैदिक प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृति-परक उपासना शक्ति की उपासना में परिवर्तित हो गयी है। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्री रूप माना गया है।"[६] वैष्णव शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों ने इस शक्ति को किस-किस रूप में स्वीकृत किया है, इस विषय पर एक सामान्य दृष्टि प्रस्तुत है।

Śiva and Śakti. The attainment of this ideal is the Supreme Unity of Parama Śiva, where Śiva and Śakti are one Undivided and indivisible whole. It is called Mahā-Śakti in the language of the Śāktas and represents the Absolute of the Śākta Āgamas....." (A prefactory Note by Gopinath Kaviraj on the philosophy of Gorakhnath).

१. अग्ने यत्ते दिवि वर्च्चं पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र।
येनान्तरिक्षं भुवति तन्वन्वेषं सा भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
—ऋग्वेद

२. माण्डूक्योपनिषद् ३।२४, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८

३. गीता ७।२५, १४।३

४. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ० ८५

६. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

शक्ति तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य** – चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन नित्य पदार्थों में अचित् तत्त्व के तीन भेदों—शुद्ध, मिश्र और सत्त्व में से मिश्र तत्त्व ही माया, अविद्या या प्रकृति है।[1] माया (अद्भुत पदार्थों की सृष्टि करने वाली शक्ति) द्वारा ही ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। जहाँ शङ्कराचार्य विवर्तवाद को मानते हैं, वहीं रामानुजाचार्य परिणामवादी हैं।[2] माया से तात्पर्य है—विभिन्न पदार्थों की उत्पादिका त्रिगुणात्मिका प्रकृति। इसके अतिरिक्त अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूपा माया, अविद्या या अज्ञान कुछ नहीं। 'माया'' शब्द प्रकृति का वाचक है और विचित्र सृष्टि रचने के कारण ही प्रकृति को माया कहा जाता है।[3]

२. **माध्व** मत में—परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी परमात्मा के अधीन एवं उससे भिन्न है।[4] तन्त्र मत के विपरीत इस मत में शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। अपितु शक्ति शक्तिमान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती है। यह ईश्वर के समान नित्य मुक्ता, नानारूपधारिणी भगवान् की भार्या है। भौतिक आकार से रहित यह अप्राकृत देहधारिणी है। इस अक्षरा से ईश्वर जगत् को उत्पन्न, स्थित एवं विलीन करते हैं। शक्ति गुण में शक्तिमान् से न्यून तथा देश और काल की दृष्टि से उसके समान ही व्यापक है।[5]

३. **निम्बार्क** मत में—निग्रह और अनुग्रह दो ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। स्वक्रीड़ा हेतु ब्रह्म, जीव को बन्धन में डालने के लिए निग्रह शक्ति का आश्रय लेता है और अनुग्रह शक्ति से जीव की मुक्ति होती है। निग्रह गुण और अनुग्रह स्वरूप शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में पर पुरुष अपनी आह्लादिनी

---

१. वल्लभ-वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० ४२
२. भा० दर्शन, पृ० ३९६
३. भा० द० और मु० मी०, पृ० १९९-२००
४. 'परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'—म० सि० सा०, पृ० २६
५. (क) द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ॥ भागवततात्पर्यनिर्णय
(ख) भा० दर्शन, पृ० ४०३
(ग) द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० ८८

शक्ति जागरित करने के पश्चात् अपनी प्रकृति (माया) शक्ति को जागरित करते हैं ।[1]

परमात्मा की यह अपूर्वा शक्ति माया ही उसके स्वरूप गत आनन्द की प्रकाशिका है । दशश्लोकी में प्रकृति के तीन (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुण बताए हैं । अचेतन (अविद्या), अप्राकृत और काल रूप से यह तीन प्रकार की है । वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से कही गई है, जिसके शुक्ल, रक्त और पीत आदि रूप भी हैं।[2] अपने में विद्यमान चिच्छक्ति के कारण ही ब्रह्म अनन्त रूपों में दिखायी पड़ते हैं ।[3] जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार हेतु ही परम पुरुष श्रीकृष्ण इन तीन गुणों के आश्रय से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप धारते हैं ।[4] भगवान् श्रीकृष्ण विज्ञानमात्र, कर्मबन्धन से रहित, निर्मल और साक्षात् सच्चिदानंदघन परमेश्वर हैं । इनकी सच्चिदानन्दमय सूक्ष्म सृष्टि के अन्दर शुद्ध सत्त्व गुण का अवलम्बन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गौण ईश्वर रूप माने जाते हैं । ये ईश्वर तथा उनकी शक्तियाँ विश्व के कल्याणार्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण और आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के अंश से प्रकट होती हैं । श्रीकृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं ।[5] राधा ही श्रीकृष्ण की परम शक्ति है । इस मत में शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद सम्बन्ध है ।

४. **वल्लभ** मत में—माया को परब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है । तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में माया को सर्वभवनसामर्थ्यरूपा, आत्ममाया और अन्यानुपजीवन माना है ।[6] "वल्लभाचार्य ने माया के दो रूप माने हैं—

---

१. श्रीनिम्बार्क वेदान्त, पूर्वार्ध, पृ० ६०

२. अप्राकृतं प्राकृतं रूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् ।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥
—दशश्लोकी—६

३. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म वरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥
—वही २

४. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ६०

५. वही, पृ० ६०

६. 'माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता । यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् । तेन स्वसामर्थ्येन अन्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्च कृतवान् इति फलितम्—'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

(१) विद्या माया—विद्या-माया के द्वारा जीव संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। माया का प्रभाव जीव पर ही पड़ता है।

(२) अविद्या माया—अविद्या-माया शक्ति के द्वारा जीव अपने ही द्वारा कल्पित संसार में कर्म बन्धन आदि चक्र में पड़ जाता है। इससे वह अनन्त दुखों का भागी बनता है।[1] आचार्य ने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी में माया के दो रूपों का वर्णन किया है—

(क) व्यामोहिका माया[2]—यह माया भगवान् की चरणदासी के रूप में है अतएव वह भगवान् के सेवकों के समीप जाने में लज्जा का अनुभव करती है।

(ख) करण माया[3]—इसके द्वारा भगवान् जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।"[4]

कुछ विद्वानों ने शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय में माया के तीन भेदों को स्वीकारा है।

(क) "एक परब्रह्म की अन्तरंग शक्तिरूपा माया है, जिसे पांचरात्र आदि तन्त्रग्रन्थों में लक्ष्मी या रमा शब्द से भी कहा गया है।

(ख) दूसरा माया का स्वरूप है भगवान् परब्रह्म का सामर्थ्य, जिससे वे सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया करते हैं।

(ग) तीसरी माया है जीवों को मोह कराने वाली भगवान् की शक्ति जिसे अविद्या शब्द से कई स्थानों पर कहा गया है। इसका ही त्याग करने के लिए भागवत की वेद स्तुति के आरम्भ में भगवान् से प्रार्थना की गई है।"[5]

---

१. (क) विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता॥
—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध कारिका-३१

(ख) विद्याविद्ये मम तनू।
—श्रीमद्भागवत, ११।११।३

२. सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत, २।७।४७

३. वही, १०।५७।१५

४. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२९

५. दर्शन अनुचिन्तन, श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ७७ के शब्द वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० २०५ से उद्धृत।

५. चैतन्य मत के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ स्वीकृत हैं—

१. स्वरूपशक्ति (२) तटस्थशक्ति और (३) मायाशक्ति। विष्णुपुराण में उक्त है कि विष्णु शक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नाम की तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है।[1]

१. स्वरूप शक्ति—इसी का नाम चित्त शक्ति तथा अन्तरङ्ग शक्ति है। भगवान् की यह शक्ति तीन रूपों में प्रकाशित होती है। विष्णुपुराण[2] में वर्णन है कि सबके आधारभूत आप में ह्लादिनी (निरन्तर आह्लादित करने वाली) और सन्धिनी[2] (विच्छेदरहित), संवित् (विद्याशक्ति) अभिन्नरूप से रहती हैं। आप में (विषयजन्य) आह्लाद या ताप देने वाली (सात्त्विकी या तामसी) अथवा उभयमिश्रा (राजसी) कोई भी संवित् नहीं है क्योंकि आप निर्गुण हैं।[3]

२. तटस्था—इसे जीव शक्ति भी कहते हैं। इससे नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव होता है। "इससे विशिष्ट भगवान् के अंश ही विविधांश कहलाते हैं।

३. माया शक्ति—अन्तरङ्ग चिच्छक्ति की छायास्वरूपा।"[4] "माया शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव साधन होता है।"[5]

उपर्युक्त तीन शक्तियों का समुच्चय ही पराशक्ति कहलाता है। प्रमेय-रत्नावली में उक्त है कि विष्णु की तीन शक्तियों में से पराशक्ति से भगवान् अभिन्न हैं।[6] "भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और

---

१. विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
—विष्णु पुराण ६।७।६१

२. 'सदात्मापि यथा सत्तां धत्ते ददाति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी'।

३. ...ह्लादिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
—विष्णुपुराण १।१२।६९

४. भा० द० और मु० मी० पृ० २४२

५. भा० दर्शन पृ० ४२१

६. विष्णोः स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्तिता परा।
सैव श्रीशादभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान्॥
—प्रमेयरत्नावली १।१२

माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं।"[1]

६. पाञ्चरात्र मत में शक्तिमान् अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय तब लेते हैं, जब वह निर्गुण से सगुण बनते हैं। अद्वैत प्रतीत होता हुआ शक्तिमान् और शक्ति का सम्बन्ध वास्तव में अद्वैत नहीं है। केवल ऐक्य की प्रतीति ही होती है।[2] 'धर्म-धर्मी, अहन्ता-अहं, चन्द्रिका-चन्द्रमा और आतप सूर्य के सदृश परम और शक्ति में भेद अवश्य रहता है'।[3] परम की यह स्वतन्त्र शक्ति सभी कार्यों को सम्पादित करती हुई जगत् में उन्मेष-निमेष को प्राप्त करती है।[4] "स्थूल जगत् के रूप से लक्षित होने के कारण यही लक्ष्मी है। विष्णु का आश्रयण करने के कारण यह श्री है। विष्णु की सामर्थ्य होने के कारण यह शक्ति है। जगत् का पालन करने के कारण उनकी पत्नी है। फिर जगत् को अपने में संकुचित करने के कारण यही 'कुण्डलिनी' कहलाती है "जगदाकारसंकोचात्स्मृता कुण्डलिनी बुधैः"। भक्तों पर अनुग्रह करके उन्हें संसार से तारने के कारण यह तारा है। समस्त विकारों का उपशम होने के कारण यह शान्त है। संसार में सत्ता और निषेध के जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में अनुस्यूत होकर रहती है, ऐसी दिव्य और सर्वाङ्गपूर्ण यह विष्णु की माया शक्ति[5] है"।[6] इसी शक्ति के सृष्टि काल में दो रूप हो जाते हैं—

---

१. भा० दर्शन पृ० ४२१

२. व्यापकावतिसंश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ। —अहि० स० ४।७८

३. (क) देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ३।२५।२७

(ख) भा० दर्शन पृ० ४३६

४. (क) स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी॥

—अष्टावक्रसंहिता ३।६

(ख) स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ५।४

५. विष्णोः सर्वाङ्ग-सम्पूर्णा भावाभावानुगामिनी।
शक्तिर्नारायणी दिव्या सर्वसिद्धान्तसम्मता॥

—वही ३।२४

६. भा० द० और मु० मी०, पृ० २४८

१. क्रिया शक्ति और २. भूति शक्ति ।[1] ईश्वर की सिसृक्षा का नाम क्रिया शक्ति तथा जगत् की परिणति भूति शक्ति है ।[2]

७. **श्रीमद्भागवत में**—माया ही भगवान् की शक्ति है। माया से अभिप्राय है कि वास्तविक, वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती ।[3]

---

१. लक्ष्मीमयः समुन्मेषः स द्विधा व्यवतिष्ठते । क्रिया भूति......
—वही ३।२८

२. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः ।
लक्ष्मीमयः प्रोणरूपो विष्णोः सङ्कल्प उच्यते ॥ वही ३।२१

३. (क) ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः ॥
—श्रीमद्भागवत २।६।३३

(ख) एवं चिदचिद्विलक्षणस्य परमात्मनः परस्वरूपमुक्त्वाऽवरशब्दोक्तमङ्गतया ज्ञातव्यं चिदचित्स्वरूपमाह । ऋतेऽर्थमिति । प्रकृत्यनुसन्धाने केवलं तस्यां प्रतीयमानायां सत्यामिति शेषः । यदचिद्वस्तु अर्थं चित्तत्वम् ऋते विना प्रतीयेत सर्वकालं जडमेव । न स चैतन्यमिति ज्ञायते इत्यर्थः । आत्मस्वरूपानुसन्धानवेलायामिति शेषः । आत्मनि केवले चित्स्वरूपे प्रतीयमाने सति तु यच्चित्तत्त्वं तच्च प्रतीयेत । न तु केवले चित्तत्वमित्यर्थः । तत्र यच्चित्स्वरूपं वस्तु सर्वकालचेतनतावदेव तत् यदचित्स्वरूपं वस्तु तज्जडमेव, एवं सति तयोर्मध्ये यदचित् तद् आत्मनो मम मायां विद्यात् । एवं चित्प्रकाशस्वरूपम् अचिदप्रकाशस्वरूपमिति तयोर्लक्षणे अभिहिते । अथ चित्प्रकाशे चिदचितोः प्रकाशनं यदभिहितं तच्च विरुद्धाकारवेदनतस्तत्तस्तद्दृष्टान्तेन समर्थयते यथाभासः यथा तम इति तेजसि सति पर्वतादौ तेजस्तमश्चेत्युभयमपि प्रकाशमानं जायते । तमसि तेजः प्रकाशमानं न जायते उभयोर्विरुद्धाकारत्वादिति भावः । —वही, भक्तमनोरञ्जनी पृ० १३१

इसी माया से मोहित होकर जीव अपने आपको त्रिगुणात्मक समझता हुआ ही अनर्थों का भोग करता रहता है।[1]

पाशुपत मत में—"परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रिया शक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। सम्प्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—चूंकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया हैं।"[2] भगवान् कौण्डिन्य ने महेश्वर की शक्ति को सनातनी के रूप में स्वीकारा है।[3]

६. **वैयाकरण** सिद्धान्त में विद्यमान शक्ति अविद्या है जो वेदान्तियों के समान अनादि एवं भावरूपा न होकर वासनारूपा है। इस शक्ति के माया, प्रकृति आदि पर्याय हैं। तथा यह ब्रह्म के संरक्षण में रहती है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्बन्ध है किन्तु शक्ति भेद को लेकर पदार्थ भेद की प्रतीति होती है पर वास्तव में भेद नहीं है। जल के विभिन्न विकारों की भाँति विलक्षण कार्यों के उदय से विलक्षण शक्तियाँ ब्रह्म की एकता में बाधक नहीं हैं।[4] अतः विभिन्न ४ रूपों में स्फुरित शब्दशक्ति भेदप्रतीति का कारण है और संस्कृत वाणी के प्रयोग से इसकी निवृत्ति सम्भव है।[5]

---

१. मायासम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥
—श्रीमद्भागवत १।७।५

२. "अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रिया-शक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—
कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम्।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम्॥"
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३१७-३१८

३. भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी—कौण्डिन्यभाष्य २।६

४. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥
—वाक्यपदीय ८०

५. भा० द० और मु० मी० पृ० ३१८

(१०) **वीरशैवसिद्धान्त** में परमशिव में अपृथक् रूप से वर्तमान सिद्ध विशेषण ही शक्ति है। शक्तिमान् और शक्ति में अविनाभाव होने से शिव बिना शक्ति और शक्ति बिना शिव अपूर्ण है। शक्तिविशिष्टाद्वैत[1] के इस सिद्धान्त में शक्ति के दो प्रकार स्वीकृत हैं—

सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति (परम के साथ अभिन्नत्व रूप में विद्यमान और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति (जीव और जगत् का बोध कराने वाली)। धर्म (शक्ति) और धर्मी (शिव) में अभिन्नत्व है। यह शक्ति ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से विद्यमान है, तथा नित्य है।[2] 'मं' से शक्ति रूप ब्रह्म का बोध होता है और अनायास ही उसे पाकर सदा उसमें निवास हेतु यह माया है।[3] परब्रह्म स्थित विमर्श शक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका कहलाती है। तथा इसी से परमशिव समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ कहलाते हैं।[4] ।'अतः परमशिव की शक्ति स्वभावसिद्ध है। वह ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति आदि के रूप में विविध नामों से पुकारी जाती हैं।"[5]

(११) **शैव मत**—शक्ति को अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। यह शिव में समवेत अर्थात् यह परमशिव में अविभाज्य एवं

---

१. 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ, शक्तिबिशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाऽद्वैतम्'।

२. (क) तदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

(ख) तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी॥
—सिद्धान्तशिखामणि परिच्छेद २

(ग) भा० द०, पृ० ४६६

३. मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्वभावतः।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी॥
—भा० द० और मु० मी०, पृ० २६४

४. यथा चन्द्रे स्थिता ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा॥ वही.

५. 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।
—वही

तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान है । शक्ति से रहित शिव अचिन्त्य हैं । शक्ति ही शिव के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है एवं इसी के द्वारा शिव के रूप का निर्माण होता है । अपनी इस गति के विना शिव स्वकृत्यों का सम्पादन नहीं कर सकता । यही शक्ति बन्धन और मोक्ष का कारण है । इसी के कारण शिव जीवों की सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य सम्पादित करता है ।[1] शिव की यह शक्ति चेतन एक और पराशक्ति से अभिहित है । यह नाद से पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों की नियन्त्रिका है । शिव-शक्ति से सृष्ट सभी वस्तुयें उन्हीं के रूप हैं । शक्ति को हम शिव की ऊर्जा कह सकते हैं ।[2]

शिव की दो (समवायिनी और परिग्रहरूपा) शक्तियाँ हैं । प्रथम शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी तथा द्वितीय परिग्रहरूपा; अचेतन और परिणामशालिनी है; यही विन्दु कहलाती हैं । इसके दो भेद (१) शुद्ध (शुद्ध विन्दु का नाम महामाया) और (२) अशुद्ध (माया) हैं । महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है । स्वसमवायिनी शक्ति द्वारा परमात्मा जब बिन्दु पर आघात करते हैं तब उसमें क्षोभ होता है परिणामतः शुद्ध जगत् की सृष्टि और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् की उत्पत्ति होती है ।[3] "ज्ञान और क्रिया शक्ति पाँच प्रकार से कार्य करती हैं । जब ईश्वर ज्ञान शक्ति से कार्य करता है, वह शिव कहा जाता है, जब क्रिया शक्ति से कार्य करता है, उसे शक्ति कहा जाता है । जब वह ज्ञान और क्रिया के बराबर शक्ति से कार्य करता है, उसे सदाशिव कहा जाता है ।[4] जब ज्ञानात्मक पक्ष घटता है जबकि क्रियात्मक पक्ष बढ़ता है, वह महेश्वर कहा जाता है । जब ज्ञान पर क्रिया का प्राधान्य होता है, उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है ।"[5]

---

१. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ० ५५
२. वही पृ० ५६-५७
३. 'माया के रूप में जो बिन्दु है जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं वही पञ्चम पाश है । जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति हो जाय वही परम मुक्ति है । इसकी अपेक्षा करने से तो विन्दु पाश ही है ।—"विन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि...।

—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३४३

४. भा० द०, पृ० ४७१
५. शैवसिद्धान्तदर्शन, पृ० ५६

प्रत्यभिज्ञादर्शन— इस मत में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में एक शक्ति तत्त्व है जिनके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार करने में शिव शक्ति के बिना असमर्थ है। अनन्त शक्ति सम्पन्न परम की पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से मान्य हैं—

(१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान और (५) क्रिया। चिद् शक्ति प्रकाशरूपा, जिससे परम प्रकाश्याभाव में भी स्वतः प्रकाशित रहते हैं। जिससे परम निरतिशय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किए, स्वयं अनुभव करता है, स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है।[१] निज को स्वतन्त्र बोध करना एवं अविघात इच्छा-सम्पन्न मानना ही 'इच्छा' शक्ति है। 'ज्ञानशक्ति' आमर्ष (वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान)[२] रूपा है। सर्वाकार धारण योग्यता ही 'क्रिया शक्ति' है।[3] इन्हीं शक्तियों से परम अपने को, स्वभित्ति पर जगत् रूप से परिणत करते हैं।[४] शिवसूत्रविमर्शिनी में शिव को चैतन्य कहा है।[५] चिद्रूपता, विमर्शात्मकता, स्वतन्त्रता आनन्दैकघनता और महेश्वरता ये सब उनके पर्याय हैं। इसको हम यह भी कह सकते हैं कि ये सब उनकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित गुण हैं। इन्हीं से वे समस्त पदार्थों को अवभासते हैं। शिव की ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रियाशक्ति पदार्थ निर्मात्री है।[६] यह शक्ति कुण्डलिनी[७] शब्द से अभिहित है जिसका

---

१. आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।
—तन्त्रसार

२. आमर्ष ईषत्तया वेद्योन्मुखतरः।

३. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः —तन्त्रसार, ।[१] प्रथम आह्निक।

४. भा० द० पृ० ४७६

५. चैतन्यमात्मा—शिवसूत्रविमर्शिनी—१।१
वार्तिक—चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥ वही पृ० ४

६ इत्थं तया घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया ॥

७. (क) सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका।
तज्जं ध्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः ॥
—सिद्धामृत

स्थान मूलाधार है। इस कुण्डलिनी के बोध, नाद और प्राण कुण्डलिनी तीन स्तर हैं तथा ये स्तर भी शक्ति की अभिव्यक्ति के ही विभिन्न स्तर हैं। बोध कुण्डलिनी स्पन्दरूप है जो शिव के स्वरूप में निहित तथा नाद और प्राण-कुण्डलिनी ज्ञान और क्रिया के स्तर हैं। यह एक है किन्तु शिव की अभि-व्यक्तियों हेतु अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। शक्तिमान् की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके विना शिव अभिव्यक्त नहीं हो सकते क्योंकि निष्क्रिय, शक्तिहीन शिव जड़ पदार्थ सदृश ही होगा। इस मत में शिव-शक्ति की परिकल्पना है।[1] "यह शक्ति अपने को अशेष शक्तिजाल के रूप में विकसित कर लेती है तथा खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी आदि रूपों में पशु प्रमाता के हृदय में भेद की भावना को दृढ़ करती है तथा परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का गोपन कर लेती है। वे ही दिग्चरी चिद्गगनचरी आदि देवियाँ पति प्रमाता के हृदय में अभेदप्रतीति उत्पन्न करके उसके हृदय को विकसित करके अपने स्वरूप का प्रस्फुरण करती हैं।"[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति तत्त्व का ही यह विश्व उन्मेष है। शक्ति और शिव में तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण ही शक्ति की अन्तर्मुखता शिव (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव की बहिर्मुखता शक्ति है।[3] परमानन्दतन्त्र में कहा गया है कि प्रपञ्चवासना शक्ति और निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिव है।[4] शिव तत्त्व में शक्ति और शक्ति तत्त्व में

(ख) सा परमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिल-विश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचका-त्मनि अत्र विश्वतः अविद्यादेः तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वाद् बीज-भूता; तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठत्वात् सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता नहि संविदमन्तरेण किञ्चिदपि स्फुरेदिति भावः।

—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ६५

१. काश्मीर शैव दर्शन—पृ० ६३

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् की भूमिका, पृ० ५१

३. भा० द० पृ० ४८२

४. परमानन्दतन्त्रे—

प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते।
निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिवतत्त्वं समीरितम्॥

शिवस्य विश्वसिसृक्षाशक्तिः 'शक्तितत्त्व'मिति

शिव भाव गौण रहता है और तत्त्वातीत दशा में दोनों तत्त्वों की साम्यावस्था होती है। यही शिवशक्ति का सामरस्य है और इसी को शैव परमशिव तथा शाक्त पराशक्ति कहते हैं।[1] "शाक्तमत स्वतन्त्राद्वैतवाद है। इस मत में कोई भाव तद्व्यतिरिक्त नहीं माना जाता। यद्यपि सभी सब हैं, अर्थात् शिव भी शक्ति है और शक्ति भी शिव है, तथापि प्रकाश कदापि विमर्श-क्रियता छोड़ता नहीं तथा विमर्श भी प्रकाशकर्तृत्व का त्याग नहीं करता। इसलिए, शिव और शक्ति का वास्तविक रूप ऐक्य स्वभाव है। 'कोमलवल्लीस्तव' में सिद्ध महेश्वरानन्द ने भगवती को लक्ष्य करके कहा है—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः।
तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया॥"[2]

यह तान्त्रिक विशेषता है कि इसने महामाया के साम्राज्य का विवेचन किया है जहाँ वैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों की सत्ता है।[3]

शाक्त शक्ति की उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। सोलह कलाएँ सम्पन्न इसे नित्यषोडशिका के नाम से भी जाना जाता है। प्रथम पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त होता रहता है किन्तु अन्तिम कला सर्वदा नित्य है जिसे अमृता कला कहते हैं। शाक्त मत में शक्ति को चित्स्वरूपा माना है। यहाँ पूर्ण

रामेश्वरः परशुरामकल्पसूत्रटीकायामवदत्—निर्गुण एव शिवो यो "बहु स्यां प्रजायेय" इतीच्छाशक्त्या युक्तः सृष्ट्युन्मुखः स एव शिवः शक्तिपदवाच्योऽभवत्"—शाक्तदर्शन पृ० ६०

१. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६

३. सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
शक्रं त्रिपुरसुन्दर्याः ब्रह्माण्डाकारमीश्वरी॥
पञ्चभूतात्मकञ्चैव तन्मात्रात्मकमेव च।
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तावात्मकं यथा॥
मायादि तत्त्वरूपं च तत्त्वातीतं च बैन्दवम्।
वैन्दवे जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार कारिणी॥
सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥
—लुप्तागमसंग्रह, पृ० ४१

अद्वैतवाद और भक्ति का मञ्जुल समन्वय दृष्टिगत होता है। कुलार्णव तन्त्र में इस साधना के अन्तिम फल का निरूपण प्राप्त होता है।[1]

इस मत का सारांश यह है कि शक्ति रहित शिव सामर्थ्यहीन है और इससे रहित होने पर शिव में न तो कोई क्रिया हो सकती है और न ही ब्रह्माण्ड संचालन रूप स्पन्दन। शिव-शक्ति के अनादि संयोग को बिन्दु कहते हैं। किन्तु यही एक तरह का निस्पन्द शिव का अहंकार है जिससे सत्त्व, रजस् और तमस् की उत्पत्ति होती है। इन तीनों की निरन्तर समता ही महामाया, महामाया के नीचे माया और उसके बाद प्रकृति है। ये तीनों ही परमेश्वरी की अचित् शक्ति के विभाग हैं। इन तीनों के ऊपर चित् शक्ति या पराशक्ति है। यह शरीर जिन छः तत्त्वों से निर्मित है, वे त्रिपुरासुन्दरी के ही तत्त्व हैं। अर्थात् छः तत्त्वों को लेकर ही भगवती विश्वरूपी देह में परिणत हुई है।[2] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में स्पष्टोक्त है कि शक्ति का प्रसार एवं संकोच ही जगत् की सृष्टि एवं लय है।[3] कामकला विलास में इस शक्ति को विमर्श-रूपिणी कहा है।[4]

---

१. भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥
—भा० द० पृ० ४८३

२. भा० द० और मु० मी० पृ० ३३९-३४०

३. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं० ४।२४

४. विद्यापि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
विद्यावेद्यात्मकयोरत्यन्ताभेदमामनन्त्यार्याः॥
एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः
यस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥
विमर्शाख्या च सा देवी पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशानिलसप्तार्चिः सलिलावनिभेदतः॥
एकैकगुणवृद्धा तु तिथिसंख्यात्वमागता।
विमर्शरूपिणी विद्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥
विचित्रान्तं समन्ततः।
स्वागमादेव बोद्धव्यमिति संकल्पमात्रतः॥
—कामकलाविलास, पृ० १९-२०

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में उस अव्यक्त[1] परम तत्त्व की सत्यसंकल्पमयी इच्छामात्र रूपी धर्म को धारण करने वाली एवं समस्त जीवों के सुख-दुःख निमित्तार्थ सृष्टि एवं प्रलय की एकमात्र कारणभूता निजा शक्ति की विद्यमानता थी। अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति में अभिन्नत्व था। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास था। यह निजा शक्ति ही संकल्प अथवा इच्छा शक्ति है। इस निज शक्ति को शिव की अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। तदनन्तर सकलज्ञानोत्पादक परा नामक शक्ति उन्मुख हुई। इस पराशक्ति के स्पन्दनमात्र से उसमें प्रसुप्त समस्त जगत् की उत्पादिका क्रिया प्रधान धर्मा अपरा शक्ति जाग्रत हुई। इसी को सिसृक्षामयी भी कहते हैं। उस अपरा शक्ति से परमेश्वर में अहंकार से सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई अर्थात् परम शिव की अहंभाव प्रधान सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई और अन्त में चिच्छिला कुण्डलिनी शक्ति प्रकट हुई।[2] इसको इस क्रम द्वारा भी अभिव्वक्त किया जा सकता है बीज, अंकुर, काण्ड, शाखा और पत्र एवं फल। यह चिच्छिला अन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। अर्थात् वस्तुतः परम शक्ति एक ही है, किन्तु जब वह सृष्टि हेतु उन्मुख होती है तो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होकर जगत् रूप में प्रकट होती है। यही जगत् की कारण है। निज विभिन्न-२ स्वरूपों को धारण करती हुई अन्त में साकार शक्ति, सृष्टिकुण्डलिनी अथवा स्थूल शक्ति के रूप में प्रकट होती है। पराशक्ति की सहायता से परमशिव सृष्टि प्रक्रिया को सम्भालने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इससे रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं तथा इससे युक्त होने पर वे सब कुछ कर सकते हैं।[3]

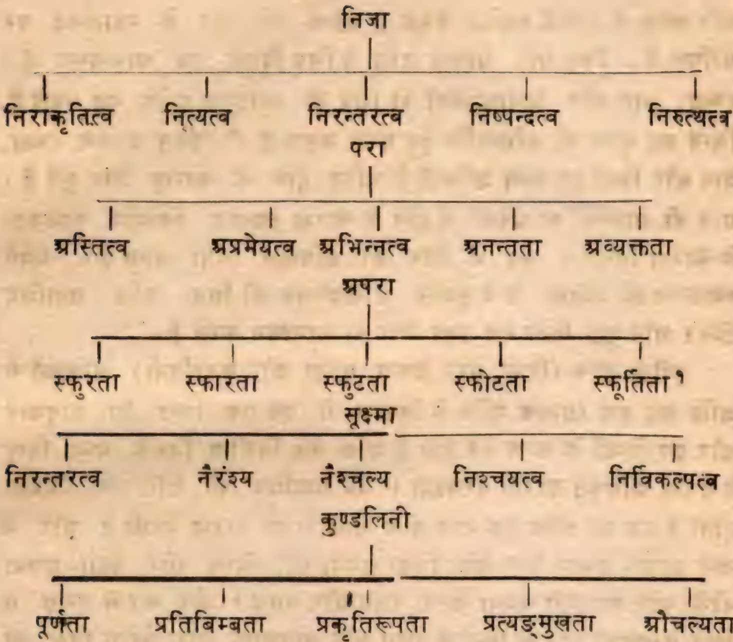
इस प्रकार उस अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ पाँच-पाँच गुणों से युक्त थीं। अर्थात् प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुण थे। जो इस प्रकार से हैं—

---

१. ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥
—चरकसंहिता, शरीरस्थानम् १।६६

२. सि० सि० सं० १।५-६

३. परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
अतस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो तदा भवेत्॥
—वामकेश्वरतन्त्र ४।६



इस प्रकार प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुणों (कुल पच्चीस)[1] के समुदाय से परपिण्ड की उत्पत्ति हुई, ऐसा सिद्धान्ततत्त्ववेत्ता कहते हैं।[2] अर्थात् पञ्च शक्तियों के इन गुणों के समुदाय से सगुण परमेश्वर के पिण्ड का आविर्भाव होता है। परपिण्ड की उत्पत्ति शक्ति के संयोग से होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि परपिण्ड को प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है क्योंकि आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या उपाधि युक्त हो जाती है। अतएव पर तत्त्व को एक संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति भेद मुख्यतया दो प्रकार से किया गया है। एक वे जो शिव के स्वरूप में निहित हैं तथा दूसरे वे जिन्हें शिव सृष्टि की

१. सि० सि० सं० १।७-९
२. वही, १।१०-१२
३. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः॥
—शिवसंहिता १।६८ नाथ सम्प्रदाय पृ० १२२-१२३

अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुटित करता है अथवा जो शिव के स्वातन्त्र्य पर आश्रित हैं। चित् और आनन्द शक्ति से शिव विमर्श एवं आनन्दरूप है। इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कह सकते हैं, जिन्हें वह सृष्टि की अभिव्यक्ति हेतु प्रकट करता है।[१] "चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पञ्च शक्तियों से भरित होने के कारण शिव पूर्ण हैं। अन्य की आकांक्षा या अपेक्षा न होने के कारण स्वतन्त्र; चिन्मात्र स्वरूपता के कारण निराशंस रूप में शिव को अभिहित किया जाता है। अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से वे पूर्वोक्त शक्तिपञ्चक की शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या रूप तत्त्व दशा का आभासन करते हैं।"[२]

पूर्वोक्त पञ्च (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) शक्तियों में शक्ति चक्र क्रम (प्रत्येक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड का प्रादुर्भाव और इन पिण्डों के पञ्च देव होते हैं शक्ति चक्र त्रिकोण जिसके मध्य बिन्दु है अर्थात् अविकृत कारण परमब्रह्म। जब सदाशिव की शक्ति का विकास होता है तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है और वे तीन आकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा अथवा गौरी, और सरस्वती अथवा सत्त्व, रजस् और तमस्। शैव मत में इच्छा से बिन्दु में तनाव, ज्ञान से बिन्दु में क्षोभ और ज्ञानशक्ति द्वारा प्रेरित बिन्दु स्व उत्तेजित रूप में शिव कहलाता है। यही बिन्दु का प्रथम परिवर्तन है। बिन्दु अपने तार में कुण्डलिनी और शिव अपनी जाग्रतावस्था में वही कुण्डलिनी है।)[३] द्वारा सदाशिव आविर्भूत हुआ।[४]

अनादि पिण्ड—पञ्च शक्ति सम्पन्न पञ्च देवताओं का क्रम –

१. अपरम्पर-सदाशिव—विद्यमानता, अपूर्वता और अचितायुक्त। निजा शक्ति के अधिष्ठाता।

---

१. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६६

२. स्वान्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्॥

—तन्त्रालोक ९।५०

काश्मीर शैव दर्शन पृ० ५२ से

३. (क) सि० सि० प० पृ० ६१
(ख) शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० १२१

४. सि० सि० सं० १।१३

२. परम-ईश्वर—स्वसंवेदनाभास युक्त। परा शक्ति के अधिष्ठाता।

३. शून्य-रुद्र—स्वेच्छा मात्र। अपरा शक्ति के अधिष्ठाता।

४. निरञ्जन-विष्णु—सत्तामात्र (अहंकार) युक्त। सूक्ष्मा शक्ति के अधिष्ठाता।

५. परमात्मा-ब्रह्मा—समष्टिपिण्डयुक्त। कुण्डलिनी शक्ति के साक्षी।[1]

सम्भवतः सूक्ष्म दृष्टि से अगर षट् चक्रों में से पञ्च चक्रों का पर्यालोचन किया जाए तो इन पञ्च चक्रों के देवताओं का भी यही क्रम प्रतीत होता है—

१. विशुद्ध चक्र – सदाशिव

२. अनाहत चक्र—ईश

३. मणिपूरक चक्र – रुद्र

४. स्वाधिष्ठान चक्र—विष्णु

५. मूलाधार चक्र—ब्रह्मा।

यहाँ यह निर्दिष्ट किया जा सकता है कि सूक्ष्म से स्थूल जगत् की उत्पत्ति में ये पाँचों देव अपने-अपने विशेषणों से युक्त समष्टि (ब्रह्माण्ड) से व्यष्टि (पिण्ड) की ओर उन्मुख होते हैं। स्थूल जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के स्थान मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी करना अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होना ही वास्तविक मुक्ति है। क्योंकि साकार का विनाश हो जाता है किन्तु निराकार कभी नष्ट नहीं होता, अतएव प्रयत्नपूर्वक साकार का परित्याग करना चाहिए।[2] ऊर्ध्वमूल और अधःशाखारूप इस वृक्षाकार कलेवर में महामाया रूपवासुकी का वास रहता है और वह ब्रह्माण्ड संज्ञक शिव से मिलने हेतु सदा व्याकुल रहता है। जब वह वासुकी स्वर्गषट्क को भेदकर उत्थित होता है तो पिण्डस्थ

---

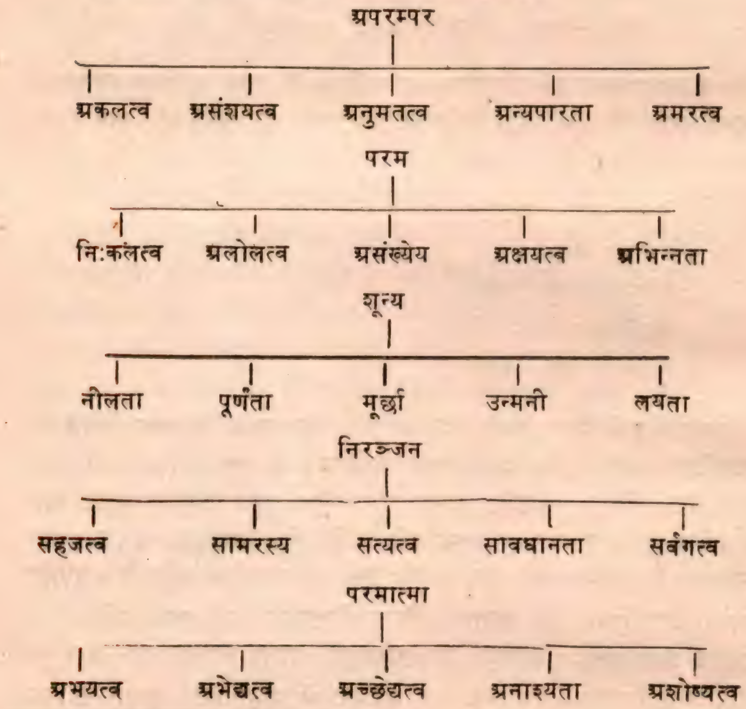
१. सि० सि० सं०, १।१४-१५

२. ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति॥
निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत्॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् २९-३०

सभी नदियाँ ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं।[1]

सिसृक्षावस्था में पूर्वोक्त वर्णित देवताओं का क्रमिक विकास एवं आरोहण में इनका विपरीत क्रम उत्पन्न होता है और अन्त में केवल स्वयं अथवा अनाम तत्त्व ही विद्यमान रहता है।

पञ्च देवताओं के पाँच-पाँच गुणों का निरूपण—



१. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम्॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम्॥
वासुकी या महामाया भुजगाकाररूपिणी।
सार्धत्रिवलाकारा पातालतलवासिनी॥
सत्यलोके महाविष्णुं शिवं ब्रह्माण्डसंज्ञकम्।
तस्य संदर्शनार्थाय वासुकी व्याकुला सदा॥
स्वर्गषट्कं भेदयित्वा उत्थिता वासुकी यदा।
सर्वाः समुद्रगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि॥
तोडलतन्त्रम्—२।१, २, ५, १०,११

इस प्रकार पञ्चशक्ति-समन्वित चेतन ही अनाद्य-पिण्ड कहलाता है और विद्वद्जनों द्वारा इस पिण्ड के पाँच तत्त्वों तथा उनके पच्चीस गुणों का वर्णन किया गया।[1] अन्त में यह समस्त चराचर जगत् महाशक्ति के गर्भ में स्थित होता है और वह चेतनस्वरूपा शक्ति भी चेतनस्वरूप परम से अभिन्न रहती है। तब केवल निर्गुण तत्त्व था। सृष्टि-प्रक्रिया के साथ सर्वप्रथम पञ्च-पञ्च गुणों से युक्त पञ्च महाशक्तियों में एक-एक शक्तियुक्त एक-एक देव का आविर्भाव हुआ। इन सब शक्तियों से युक्त चेतन ही अनाद्य पिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव के नाम से विख्यात है, उसी सर्वेश्वर के अपरम्पद, परमपद, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा ये अवयव रूप हैं।[2]

सृष्टि के सम्बन्ध में अनागमिक सृष्टि, स्थिति और संहार इन तीन स्थितियों को स्वीकार करते हैं जबकि वैष्णव, शैव और शाक्तों ने इनसे सम्बद्ध निग्रह और अनुग्रह भी माना है। ये दोनों शक्ति के विलास हैं। निग्रह स्वेच्छावश संकोच और अनुग्रह परमेश्वर की शक्ति जिससे वह पुनः अभेदमय निजस्वरूप हेतु अग्रसर होता है। 'पञ्चकृत्यकारी' परतत्त्व की निजा शक्ति अन्तःस्थ प्रपञ्च बहिः प्रसारित होकर समस्त ब्राह्मणागमों में त्रिधा विभक्त है—शुद्ध अर्थात् अभेद दशा, शुद्धाशुद्ध अर्थात् भेदाभेद दशा और अशुद्ध अर्थात् भेद दशा।[3] "शक्ति शिवता है और शिवता शिव का स्वभाव है। अतः सृष्टि-संहार स्वभावतः हो रहा है—स्वभावसिद्ध कार्य में निमित्त का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।"[4]

शिव निज सिसृक्षा शक्ति के कारण जगत् के रूप में परिणत होता है। सभी पिण्डों में उस परम तत्त्व की विद्यमानता है। स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[5] तोडलतन्त्रम् और

---

१. सि० सि० सं०, १।१६-२१
२. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, पृ० ६७-६८
३. तन्त्र और सन्त, पृ० ५०
४. महाप्रकाशरूपाहि येयं संविद् विजृम्भते।
सा शिवः शिवतैवास्य वैश्व रूप्यावभासिता।।
—तन्त्रालोक, भाग ६
आ० १५।२६५, २६६, तन्त्र और सन्त पृ० १५०-१५१
५. ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसंवित्तिरुच्यते।।
—सि० सि० सं० ३।२

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् में भी इसी प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं ।[1]

इस मत में जगत् अद्वैत वेदान्त की भाँति मिथ्या प्रतीति नहीं, अपितु वह स्वयं को अपनी शक्ति से इस व्यावहारिक जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है । शिव-सिसृक्षा से सृष्टि होती है और यही जगत् का कारण है । वैष्णव, शैव एवं शाक्तों में सृष्टिविचारपरक एक दृष्टि यहाँ प्रस्तुत है—

सृष्टि-विचार वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य**—सृष्टिविषयक प्रसङ्ग हेतु उपनिषदों का ही अनुसरण करते हैं । आचार्य ब्रह्म में चित् एवं अचित् तत्त्वों की विद्यमानता मानते हैं तथा उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपाद्य प्रकृति के रूप को स्वीकार करके उसे ईश्वर का अंश और उसी के द्वारा परिचालित मानते हैं । इस मत में प्रकृति ईश्वर की अध्यक्षता में ही सृष्टि कार्य का सम्पादन करती है ।[2] नित्य एवं अनादि प्रकृति का यह जगत् परिणाम होने से अनादि है । क्योंकि रामानुजाचार्य ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) इन तीन पदार्थों की नित्यता मानते हैं ।[3] ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति तीन तत्त्वों (तेज, जल और पृथिवी) में विभाजित हो जाती है । इनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् की प्राप्ति होती है । समस्त स्थूल पदार्थों का निर्माण इन तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोगों से ही सम्पादित होता है ।[4]

---

१. (क) बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम् ॥

—तोडलतन्त्रम्, २।२

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २९

२. भा० द०, पृ० ३९६

३. एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामक-भेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति । तदुक्तम्—
ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः ।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥

—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८७

४. भा० द०, पृ० ३९६

२. द्वैतवादी माध्वों के अनुसार जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा निमित्त और प्रकृति उपादान कारण है। अर्थात् प्रकृति ईश्वर के अधीन है और वही जगत् का उपादान कारण है।[1] जगत् ईश्वर से भिन्न एवं सत् है तथा उसकी सत्ता प्रामाणिक है। "सृष्टि ईश्वर के जगत् से, आठ प्रकार के सम्बन्धों में से, प्रथम सम्बन्ध है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के अधीन है। प्रकृति में प्रवेश एवं उसे परिणमित करके वहाँ परिणाम एवं नियमन आदि के कारण वह उसका स्वामी है।"[2] माध्व मत सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा को स्वीकारते हैं।[3]

प्रकृति प्रत्यक्ष रूप से काल एवं त्रिविध गुणों की कारण और अप्रत्यक्ष रूप से महत् अहङ्कार की कारण है। प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से यह ब्रह्माण्ड बनता है। सृष्टि-प्रक्रिया के सांख्य सिद्धान्त को स्वीकार कर मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त नहीं माना है।[4]

३. श्री निम्बार्क—मत में जगत् मिथ्या अथवा भ्रम नहीं अपितु परमात्मा का स्वाभाविक परिणाम है।[5] इस मत में जगत् के विवर्त्तवाद का खण्डन किया गया है क्योंकि जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार न करने पर जगत् के निर्माता की वस्तुस्थिति असम्भव है। जीव, जगत् और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध है। जीव और जगत् परमात्मा के आश्रित होने से अभिन्न हैं।[6] जब परमात्मा सृष्टि करना चाहते हैं तब तीनों गुणों की साम्यावस्था प्राकृत माया में विक्षोभ होता है और उसी से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। दशश्लोकी में वर्णित है कि 'अचेतन (अविद्या) अप्राकृत, प्राकृत और काल रूप से तीन प्रकार की है। वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।१५
२. 'मध्व—'प्रकृतावनुप्रविश्य, तां परिणाम्य, तत्परिणामनियामकतया, तत्र स्थित्वा आत्मनो बहुधाकरणात्।' ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१४।२७
द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० १६६
३. भा० द०, पृ० ४०४
४. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० १६६
५. सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः। ब्रह्मात्मकत्वादिति वेद विन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतसूत्र साधिता।
—दशश्लोकी, ६
६. श्रीनिम्बार्क वेदान्त पर डा० राधाकृष्णन के विचार, पृ० १४-१५

कही गई है और उसी के शुक्ल, रक्त, पीत आदि रूप भी हैं'।[1] प्रकृति, महत्व, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ये २४ तत्त्व हैं (जो कि प्राकृत सृष्टि है)। अप्राकृत माया स्वर्गादि लोकों की है। काल स्वरूप माया में सम्पूर्ण सृष्टि निर्धारित है।[2]

४. **वल्लभ मत**—जगत् को अद्वैत वेदान्तियों की भाँति मायिक तथा असत्य न मानकर ब्रह्मरूप[3] और ब्रह्मसदृश नित्य मानता है। जगदुत्पत्ति के विषय में वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद (दूध का दही में परिवर्तन विकृत परिणाम और पुनः अपने वास्तविक रूप में आना अविकृत परिणाम)[4] के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विनाश न होकर जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। ईश्वर की इच्छामात्र से सदंश के प्रकट होने पर जगत् का आविर्भाव तथा चिद् और आनन्द के तिरोभाव से जगत् का तिरोभाव समझना चाहिए।[5] यह भी कहा जा सकता है कि अनुभव, योग्य होना जगत् का आविर्भाव और अनुभव योग्यता रहित होने पर जगत् का तिरोभाव होता है।[6] पट की भाँति ही जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[7] २८ तत्त्वों को इस मत में जगत् का कारण माना है। तत्त्वों की संख्या इस प्रकार से है—सत्त्व, रजस्,

---

१. अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतं।
माया प्रधानादि पद प्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपितत्र ॥
—दशश्लोकी, ६

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध, पृ० २७१

३. तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
—सिद्धान्तमुक्तावली षोडश ग्रन्थाः ५

४. यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्। श्रीमद्भागवत
—भा० द०, पृ० ६३३

५. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त पृ०, १२४

६. 'अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः, तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः—विद्वन्मण्डल, पृ० ७—भा० द०; पृ० ६३३

७. पटवच्च—अणुभाष्य; ब्रह्मसूत्र २।१।१६

तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, और मनस्।[1]

५. **चैतन्य मत**—में जगत् एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह बहिरङ्ग शक्ति का ही विलास है और यह शक्ति प्रभु के अधीन है। भगवान् ने ही सम्पूर्ण सृष्टि की है। अतएव यह जगत् सत्य है। जगत् की सत्यता की उद्घोषणा ईशावास्योपनिषद्[2] श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] विष्णुपुराण[4] और महाभारतादि[5] में की गई है। 'जिस प्रकार उपवन में पक्षीगण लीन रहते हैं उसी प्रकार यह विश्व प्रलय काल में वनविलीन विहंगवत् परमात्मा में लीन रहता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या नहीं अपितु सत्य ही है।'[6]

६. **पाञ्चरात्र मत**—में भगवान् निर्गुण (अप्राकृत गुणों से रहित) होकर भी सगुण (जगत् व्यापार हेतु षड्गुण-ज्ञान,[7] शक्ति, ऐश्वर्य, बल,

---

१. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, सर्वनिर्णयप्रकरण, वल्लभाचार्य, कारिका, ६४-६६, वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२६

२. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम्;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः॥ —ईशावास्योपनिषद्, ८

३. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥
—श्वेता०, ४।१

४. तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्॥
—विष्णुपुराण; १।२२।६६ पृ० १२२

५. ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत अश्वमेधपर्व, ३५।३४

६. (क) प्रलयेऽपि जगत्सत्स्याद्वनलीनविहङ्गवत्।
वैराग्यार्थमसत्योक्तिरिति प्राहुर्मनीषिणः॥
नवरत्न—२२

(ख) भा० द०, पृ० ४२१

(ग) चैतन्य-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १०३

७. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते॥
—नारदपाञ्चरात्र, २।५७

वीर्य और तेज युक्त)[१] हैं। शक्तिमान् की आत्मभूताशक्ति प्रारम्भ में किसी अचिन्त्य कारण से उन्मेष पाती है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में प्रवृत्त होती है।[२] शक्तिमान् की शक्ति लक्ष्मी-संज्ञक है तथा इन दोनों में अभेद नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से जगत् में निमेष-उन्मेष को प्राप्त होती है।[३] उन्मेष द्वारा दो भागों में विभक्त यह शक्ति क्रिया एवं भूति-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। परम की सिसृक्षा क्रियाशक्ति[४] और जगत् की परिणति भूतिशक्ति अभिहित है।[५] शक्तिमान् और शक्ति में भेद होने पर भी भगवान् ही जगत् की आत्मा है और वास्तव में क्रिया एवं भूति उनकी कलाएँ हैं।[६] जगत हेतु भगवान् स्वयं चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी अवतार। शुद्ध सृष्टि के आधार शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है।

सृष्टि क्रम—प्रद्युम्न; कूटस्थ पुरुष, मायाशक्ति, नियति, काल, सत्त्व, रजस्, तमस् बुद्धि, अहंकार (वैकारिक-तैजस और भूतादि क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस) सात्त्विक से बुद्धीन्द्रिय, मन, कर्मेन्द्रिय और तामस से पञ्चतन्मात्रा स्थूलभूत। इस मत में प्रकृति, पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि की उत्पादिका है।[७]

---

१. एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम् ॥

२. स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः ॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ५।४

३. स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी ॥
—अष्टावक्रसंहिता, ३-६

४. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपी विष्णोः संकल्प उच्यते ॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ३।२१

५. भा० द०

६. भा० द० और मु० मी०, २४९

७. भा० द० पृ०, ४३९-४४१

(७) **श्रीमद्भागवत मत**—में परब्रह्म सृष्टि-हेतु पुरातन पुरुष के रूप में प्रकट हुआ और यही प्रथम अवतार है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (भा० ११।४।३)। अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति इसी से समझनी चाहिए। वे स्वांश रूप से समस्त जड़-चेतन में प्रविष्ट होते हैं, तो जीव, जगत्, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि रूपों में स्फुरित होने लगते हैं।[1] अर्थात् जीव और जगत् ईश्वर के ही रूप हैं। एक ही परब्रह्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि विविध धर्मों से समन्वित है। परब्रह्म ही विविध अहङ्कार (वैकारिक, राजस और तामस), पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता बनते हैं तथा स्वयं प्रकाश वे इन उपाधियों के संयोग से जीव कहलाते हैं।[2]

८. **पाशुपत मत**—में शिव ही पशुपति[3] तथा समस्त पदार्थ उनके पशु हैं। ये पशुपति ही उनके स्वामी हैं।[4] इस मत में कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पञ्च पदार्थ स्वीकृत हैं।[5] विद्या, कला और पशु[6] कार्य के तीन प्रकार हैं। जिनमें से विद्या जीव का गुण, कला जड़ स्वभावा और परतन्त्रा

---

१. भा० द० और मु० मी०, २५६

२. वही २५६

३. हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत्।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम्॥
अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम्।
पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः॥
पाशुपत सूत्र, पृ० १

४. ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः॥

५. (क) 'एवं सदुःखान्तः कार्यं कारणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः।'
—पाशुपत सूत्र पर कौण्डिन्य भाष्य, १।१

(ख) ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्त्वनिश्चयः॥
—सर्वदर्शनसंग्रह

६. क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति अनुगृह्णाति तिरोभावयति च उक्तं हि—'अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः। क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव'।
पाशुपतसूत्र, पृ० १४-१५

के दो प्रकार—कार्य कला (पञ्च महाभूत तथा इनके सूक्ष्म गुण) और कारणकला (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहङ्कार और मन)। इन्हीं दोनों से युक्त आत्मा पशुता को पाता है।

९. वैयाकरण—मत में एकमात्र सत्यभूत पदार्थ शब्द-ब्रह्म का ही यह जगत् विवर्त है।[1] शारदातिलक में वर्णन है कि समस्त भूतों में विद्यमान चैतन्य स्वरूप तत्त्व शब्द-ब्रह्म ही है जो प्राणियों के मध्य वर्तमान कुण्डलिनी रूप को पाकर गद्य-पद्य भेदात्मक वर्णरूपों में आविर्भूत होता है।[2]

(१०) **वीरशैव मत**—में जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। जगत् की सत्यता इस कारण सिद्ध है क्योंकि इसकी सृष्टि परब्रह्म की शक्तियों द्वारा होती है। इस मत में परब्रह्म की शक्ति का विकास और संकोच होता है।[3] इसी कारण जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। शिव की 'स्थल' संज्ञा का भी यही कारण है।[4] शिव की विमर्श शक्ति ही इच्छा शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। जिसकी अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति है तथा क्रिया-शक्ति बहिरङ्ग स्थानीया है। ज्ञानशक्ति के साथ अहङ्कार का संयोग होने से परम शिव 'शिव', शिव की क्रियाशक्ति के साथ अहङ्कार का योग होने से 'शक्ति तत्त्व' कहलाते हैं। इच्छा शक्ति की अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति से प्रपञ्च के उत्पादक 'सदाशिव' कहलाते हैं। स्थूल जगत् के निर्माण का अभिमान होने से 'ईश्वर'[5] और अन्तःकरण उपाधि

---

१. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।
—वाक्यपदीय, १।१

२. चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्॥
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥
—शारदातिलक, १।१३-१४

३. आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात्॥
—रेणुकाचार्य

४. स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
तद्ब्रह्मस्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

५. ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देवः।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीयः स भवतीश्वरो नाम॥
—महार्थमञ्जरी, पृ० ४०

सहित होने पर 'जीव' कहलाते हैं। जीव और शिव में अन्तर यह है कि शिव शुद्ध चित् या चैतन्य हैं।

परम शिव विविध शक्तियों के आश्रय से ही विश्व की रचना करते हैं।[1] इस मत में ३६ तत्त्वों की परिगणना की गई है—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ और पञ्च महाभूत। इन्हीं तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति होती है।

११. **शैव सिद्धान्त मत**—'जहाँ अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को शुद्ध ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय अथवा साक्षी मात्र मानता है वहीं काश्मीर-शैव और शैवदर्शन सृष्टि प्रक्रिया में शिव का सक्रिय होना स्वीकारते हैं। काश्मीर-शैवानुसार शिव स्वयं को ही जगत् के रूप में आभासित करते हैं, वहीं शैव मत में आत्माओं की भलाई हेतु शिव जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण होने पर अधिक बल देकर विश्वमय पर उतना अधिक प्रयास नहीं किया गया, वहीं इन दोनों दर्शनों में शिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, दोनों पहलुओं पर समान रूप से बल दिया है।'[2] काश्मीरशैव और शैवसिद्धान्त में मौलिक विभेद यह है कि काश्मीर शैव, अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता तथा शिव से ही सम्पूर्ण सृष्टि-क्रम को आभासवादी व्याख्या करता है, किन्तु शैवसिद्धान्त निमित्त और उपादानकारण का भेदकर, शिव को निमित्त और माया को उपादान कारण मानकर एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है।[3]

शैव सिद्धान्त का सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर, शुद्धविद्या, कार्य माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, मन, अहङ्कार, बुद्धि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च-

---

१. (क) अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥
यत्रोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश॥
—महार्थमञ्जरी सपरिमल, पृ० ३६

(ख) भा० द० और मु० मी०

२. शैव-सिद्धान्त दर्शन, पृ० ४

३. वही, पृ० १११

तन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ।[1]

(१२) **प्रत्यभिज्ञा दर्शन**—के अनुसार सृष्टि एकमात्र परमशिव का ही आत्म प्रसार है अर्थात् उस परम तत्त्व का स्पन्द अथवा लीला-विलास ही सृष्टि है । सम्पूर्ण जगत् सिसृक्षा अवस्था में उसी से प्रकट होता है ।[2]

सिसृक्षा में परम के दो रूप हो जाते हैं—शिव और शक्ति ।

सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं उसका लय ही शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का ही प्रसार और सङ्कोच है ।[3] शिव प्रकाशरूप एवं शक्ति विमर्श-(पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति और यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्व प्रकाश और संहार काल में विश्वसंहरण के रूप में होना) रूपिणी है ।[4] "प्रमा के दो रूप हैं—अहमंश और इदमंश । अहमंश ग्राहक शिव हैं और इदमंशग्राह्य शक्ति है । विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव और प्रकाश में विमर्श की कल्पना न्याय्य है ।"[5] स्वकीय कार्य में धर्म समुदाय में, या स्वसमान गुणवाली वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को

---

१. श्रीशैवसिद्धान्तपरिभाषा ।

२. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥

—पराप्रवेशिका, पृ० ११

यथेति, यथा वटबीजे तत्समुचितेनैव वपुषा अङ्कुरपत्रफलानि तिष्ठन्ति एवं नानाविधतनुकरणादिवैचित्र्यशालि विश्वमिदं हृदयबीजान्तः-स्थितं । मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टवर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि—वैचित्र्यशिल्पकल्पनाकौशलवत् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम् ।

—वही, पृ० ११

३. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

४. (क) इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति विस्फुरणम्—परा प्रावेशिका पृ० १-२

(ख) 'तस्य अन्तर्लीनत्वं नाम अन्तर्मुखत्वम्' ।

—कामकलाविलास, पृ० २

५. भा० द०, पृ० ४७७-४७८

ही तत्त्व कहते हैं।[1]

चैतन्य की अभिव्यक्ति के तत्त्वों की निश्चित संख्या के विषय में शैव दार्शनिकों में मतभेद है। उत्पलाचार्य तत्त्वों की संख्या छत्तीस मानते हैं किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं।[2]

पराप्रवेशिका में कहा गया है कि परमशिव ही छत्तीस तत्त्वात्मक प्रपञ्च है।[3] आचार्य सोमानन्दानुसार शक्तियुक्त शिव ही निजेच्छा से पदार्थों का निर्माण करते हैं। शिव तथा शक्ति में अभेद है।[4] इस सृष्टि क्रम का प्रारम्भ सदाशिव से होता है।[5]

प्रत्यभिज्ञा का सृष्टि-क्रम इस प्रकार से है—

शुद्धाध्व के तत्त्वों का क्रम—

(१) शिव—चित् शक्ति का प्राधान्य।
(२) शक्ति—आनन्दशक्ति का प्राधान्य।
(३) सदाशिव—इच्छाशक्ति का प्राधान्य 'अहमिदम्' भाव।
(४) ईश्वर—ज्ञानशक्ति का प्राधान्य 'इदमहम्' भाव।[6]

---

१. एवं जलादितत्त्वेषु वाच्यं यावत्सदाशिवे।
स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे॥
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः॥ तन्त्रालोक ६/४-५

२. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

३. एवं च शब्दराशिमयपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् परमशिव एव षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चः॥ पराप्रावेशिका, पृ० ६

४. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥
—सोमानन्द शिवदृष्टि ३।२।३

५. श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
—भास्करी, भा० २ पृ० २१६

६. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३।१।३

(५) सद्विद्या—क्रियाशक्ति का प्राधान्य—समधृतपुटतुलान्यायेन 'अहम् इदम्'[1] की समतुल्यता ।

शुद्धेतराध्व के तत्त्व—

(६) माया—प्रमातृस्वरूप की आवश्यक और अपने आगे के तत्त्वों की कारण ।

(७) से (११) पञ्चकञ्चुक—कला, विद्या, राग, काल और नियति ।

(१२) पुरुष—जीवावस्था—सांख्य पुरुष से भिन्न क्योंकि सांख्य के असंख्य पुरुष स्वतन्त्र सताएँ हैं, किन्तु इस मत में वे परमात्मा के ही विभिन्न आभास हैं । इसके अतिरिक्त त्रिक का पुरुष 'पुष्करपलाशवत् निर्लेप चेतन' नहीं है । यह चेतन तो है किन्तु परिस्थितियों से सर्वथा अप्रभावित नहीं रहता ।

(१३) प्रकृति—समस्त कार्यों एवं कारणों की कारण । सांख्य की प्रकृति से त्रिक की प्रकृति में दो भेद—

क—सांख्यदशा यह अनेक कार्यों के लिए स्वतन्त्र है और त्रिकानुसार यह कार्य तभी करती है जब अनन्त द्वारा प्रेरित हो ।

ख—सांख्य एक प्रधान है एवं त्रिक अनेकों ।

(१४) मन—सङ्कल्पादि का कारण ।

(१५) बुद्धि—अध्यवसायात्मिका ।

(१६) अहंकार—ग्राह्यग्राहकाभिमान रूप ।

(१७) से (२१)—पञ्च बुद्धीन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ।

(२२) से (२६)—पञ्च कर्मेन्द्रिय—पाणि, पाद, पायु, वाक् और उपस्थ ।

(२७) से (३१)—पञ्च महाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश ।

---

१. प्ररूढभेदस्य इदन्तांशस्य समधृततुलापुटन्यायेन अहमंशस्फुरणायां शुद्धविद्यातत्त्वम् । अत्र विश्वस्य स्फुटतरं परामर्शनात् क्रियाशक्तिः प्रधाना । इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत्तद्वैचित्र्येण प्रस्फुरति इति शुद्धाध्वा । —षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह—४ पर राजानक आनन्द कवि की टीका

(३२) से (३६)—पञ्च सूक्ष्म कार्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ।[1]

इस शुद्धेतर अवस्था में ग्राह्यग्राहक भाव स्फुट होता है ।'[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—त्रिक एवं शाक्त इन दोनों दर्शनों को ३६ तत्त्व मान्य हैं । इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है, जो विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण हैं । तत्त्वातीत दशा में शिव और शक्ति की साम्यावस्था होती है । इसी सामरस्य स्थिति को शैव 'परमशिव' और शाक्त 'पराशक्ति' कहते हैं ।[3] शाक्तों में श्रीविद्या ही पराशक्ति का पर्याय है । इस सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, ब्रह्मस्वरूपा और मोक्षप्रदायिका[4] शक्ति से ही समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है । यह समस्त चराचर जगत् उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं । सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के साथ शिव, शक्ति, ईश्वर, प्राणादि पञ्चक और गुण-त्रय भी माने जाते हैं । यहाँ प्रधान और गुण-त्रय पृथक्-पृथक् माने गए हैं । पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के समुदाय से निर्मित पिण्ड में चैतन्य शिव, जीवरूप में विराजते हैं । परन्तु ब्रह्मस्थानीया पराशक्ति और परमशिव की तादात्म्यावस्था से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है । तत्त्वातीत शिव शक्ति का संयोग अनादि है ।[5] पाँचवाँ मकार मैथुन भी इसी का बोधक है ।[6]

---

१ अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः ।
गगनमलिनश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि ।।

—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह १८

'अत्यन्तसङ्कोचग्रहणात् अचिद्रूपतामवभास्य आकाशादीनि पञ्चभूतानि ।

—राजानकानन्द टीका १८

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् । —श्रीविशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४६-४७

३. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा ।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः ।।

— कामकलाविलास, भा० द०, पृ० ४८२

४. 'मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्यानात्र संशयः' ।

५. भा० द० और मु० मी०, पृ० ३३८-३३६

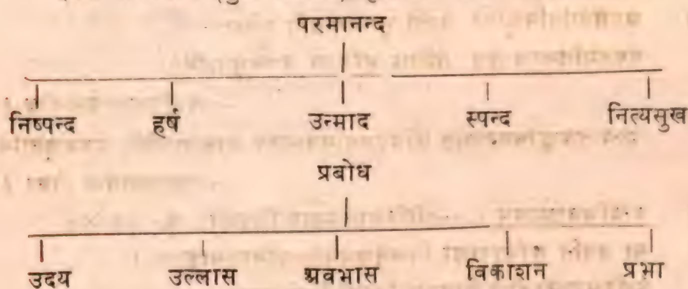
६. 'मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
मैथुनाज्जायते सिद्धं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।।
मैथुनक्रिया सृष्टि-स्थिति-लयानां कारणं परमं तत्त्वम् । मैथुनक्रियायोगे सिद्धिलाभो जायते । तस्माच्च सुदुर्लभं ब्रह्मज्ञानमुत्पद्यते ।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में—आद्य पिण्ड पुरुष-पञ्च तत्त्व तथा उनके गुण—

पूर्वोक्त तत्त्वों के सगुण समवेत द्वारा आद्य पिण्ड उत्पन्न हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति के पाँच तत्त्व हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहम् भाव। अर्थात् आद्य पिण्ड पुरुष में इन पाँचों का प्रादुर्भाव हुआ। ये सब आद्यपिण्ड की अभिव्यक्तियाँ हैं। "सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिए इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर होती है। इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं। पाँच आनन्द हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं। इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः जीव-रूप की ओर अग्रसर होते हैं।"[1]

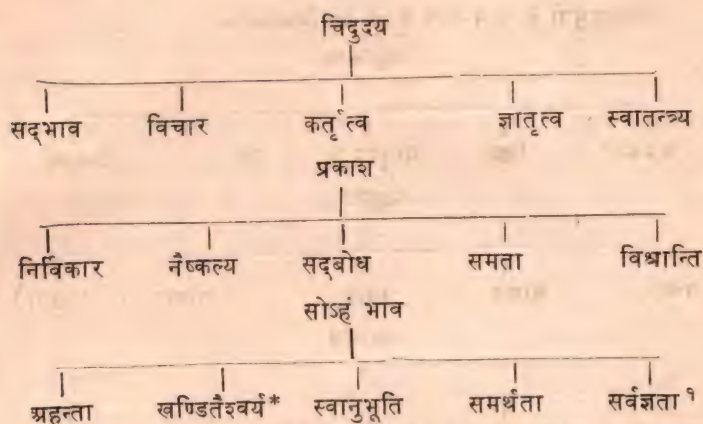
महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार "शक्ति के स्फुरण की पूर्वावस्था में ब्रह्म निर्गुण है--शक्ति की स्फूर्त्ति तथा गुणों का आविर्भाव समार्थक है। शक्ति के सदृश अनादि पिण्ड भी स्वरूपतः निर्गुण है, परन्तु शक्ति-विभाग के साथ-साथ उससे क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप प्रकाश तथा सोऽहं भाव का विकास होता है। यहाँ भी प्रत्येक भाव में पाँच-पाँच गुणों का आविर्भाव होता है। इसीलिए, सृष्टिमार्ग में अनादि पिण्ड भी पंचविंशतिगुणविशिष्ट हो जाते हैं।"[2]

इनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुण इस प्रकार से हैं—



अपि च—
कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनां देहधारिणी।
तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम्॥'
—शाक्त-दर्शन, पृ० १२८

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११६
२. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० १५२



इस प्रकार इन पञ्च तत्त्वों के गुणों से युक्त आद्यपिण्ड कहलाता है और इसी सूत्रात्मा आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महानिल, महानिल से महातेज, महातेज से महावारि और महावारि से महाधरा उत्पन्न हुई ।[२] चरक-संहिता में पञ्चमहाभूतों का वर्णन कर, यह निर्दिष्ट किया गया है कि आकाश आदि पाँच गुणियों में से प्रथम गुणी आकाश में एक गुण शब्द होता है । इसके पश्चात् के भूतों में एक-एक गुण क्रमशः बढ़ता जाता है ।[3]

ज्ञानसङ्कुलिनीतन्त्रम् में भी इसी क्रम का तथा विपरीत क्रम का उल्लेख प्राप्त होता है । और अन्त में केवल निरञ्जन ही शेष रह जाता है ।[४]

---

* ऐश्वर्यों से निर्लेप
अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ।। भागवत

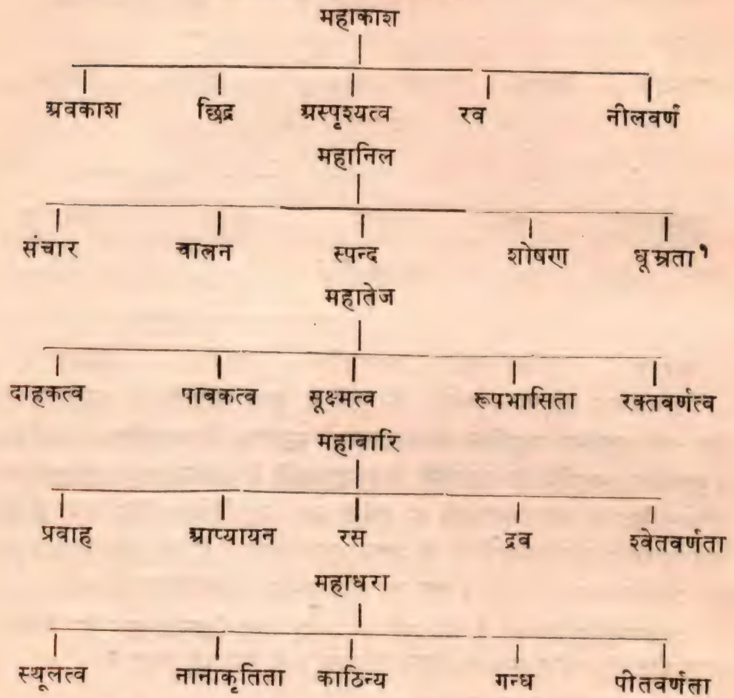
१. सि० सि० सं०—१।२२-२८ —नोट—ग्रन्थ में प्रबोध के पञ्च गुणों का निरूपण परमानन्द के गुणों से पूर्व निर्दिष्ट है ।

२. वही, १।२९-३०

३. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।।
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ।।
—चरकसंहिता-शरीरस्थानम्, अ० १/२६-२७

४. आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः ।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ।।
मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ।।

पञ्चमहाभूतों के पांच-पांच गुणों का निरूपण—



इस प्रकार पञ्च महाभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का समूह ही महासाकारपिण्ड कहलाता है।[2] यह महासाकार-पिण्ड शिवात्मक है। अर्थात् इन सब का सम्मिश्रण ही शिव है।

महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्ति—महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है, उस साकार शिव की आठ मूर्ति अर्थात् रूप हैं। उसी को शिव कहते हैं। उसी शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा उत्पन्न हुये। इस प्रकार महासाकार पिण्ड की आठ मूर्तियों का विभाग

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥

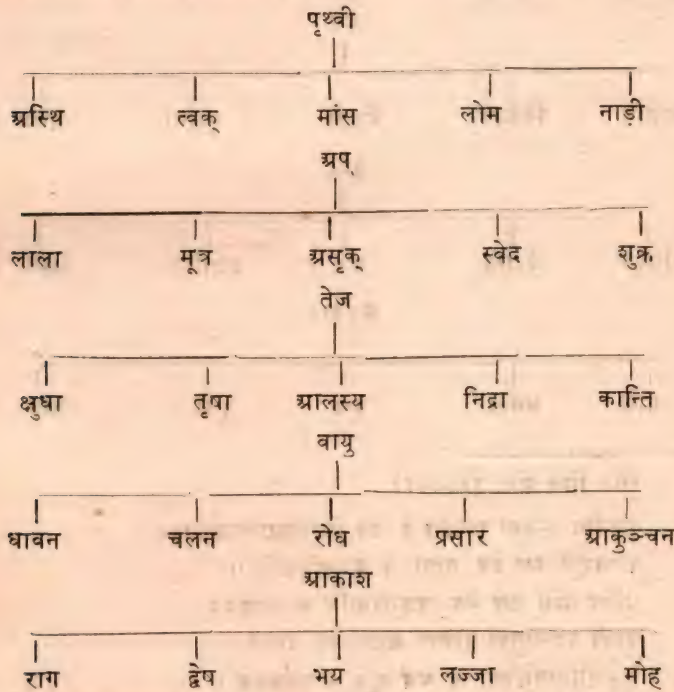
ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २५-२७

१. सि० सि० सं०, १।३०-३१

२. वही, १।३२-३५

जानना चाहिए और इन्हीं देवों के द्वारा समस्त जगत् का संचालन होता है।

नरनारी रूप प्राकृत पिण्ड—जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के संकल्प से नर-नारी रूप प्राकृत पिण्ड की उत्पत्ति हुई। यह प्राकृत पिण्ड पञ्चभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों के कारण पञ्चभूतात्मदेह कहलाता है।[1] अतएव शरीरगत पञ्चभूतों के पच्चीस गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—



इस प्रकार पञ्च भूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों से प्राकृत

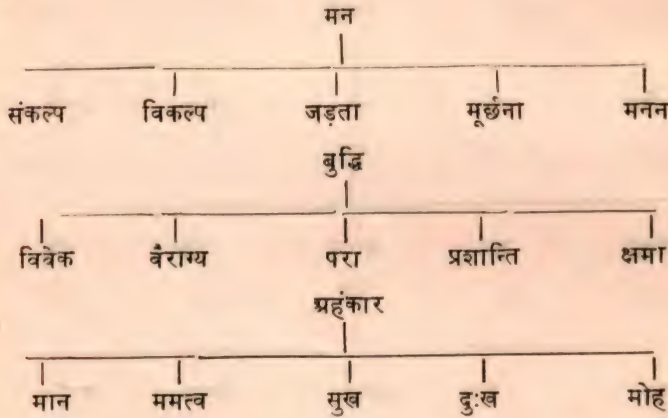
---

१. (क) सि० सि० सं०, १।३६-३७

(ख) पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी ज्ञेया पानीयं यद्द्रवाकृतिः॥
दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता॥
—अमरौघप्रबोध, ५६, ५७

पिण्ड की संरचना होती है। अर्थात् प्राकृत्-पिण्ड में पञ्चभूत अपने सभी गुणों सहित विद्यमान रहते हैं[1*]।

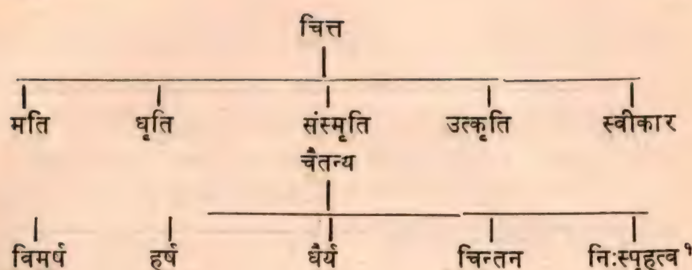
अन्तःकरणपञ्चक—अन्तःकरण के भेदों का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चैतन्य भेद से यह पांच प्रकार का है। इनके पाँच-पांच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—



---

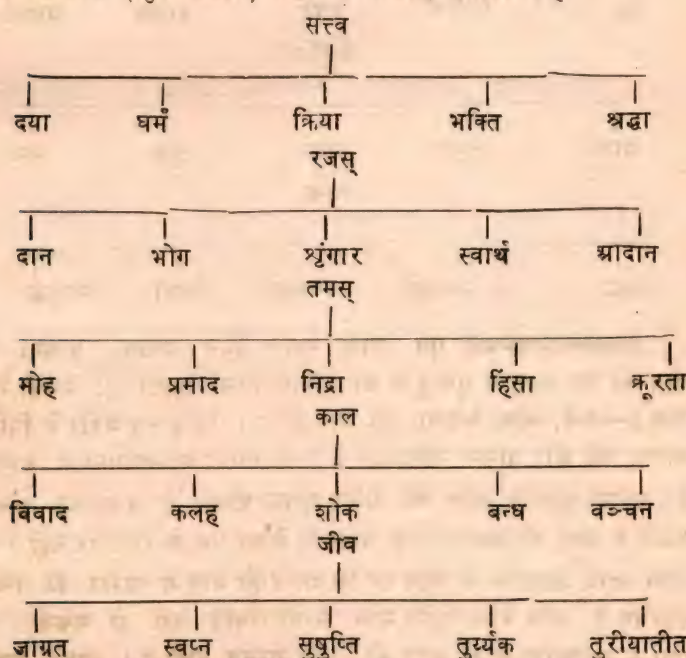
१. सि० सि० सं०, १।३७-४१

*. तुलनीय—उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम्।
पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशति ॥
अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम्।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम्।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥
निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम्।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥
धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभञ्च पञ्चमम्।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते ॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, १९-२४)



कुलपञ्चक—

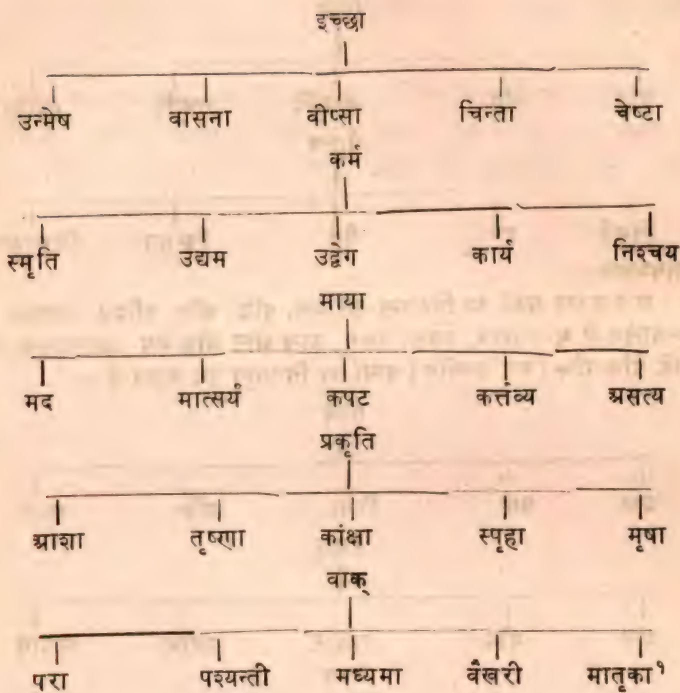
अन्तःकरण धर्मों का निरूपण कर मन, बुद्धि और इन्द्रिय व्यापार के सञ्चालन में मुख्य सत्त्व, रजस्, तमस्. काल और जीव रूप कुलपञ्चक तथा उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गणों का निरूपण इस प्रकार है--



व्यक्तिपञ्चक एवं उनके गुण—कुलपञ्चकवर्णनोपरान्त व्यक्ताख्य शक्ति पञ्चक एवं उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार है—

व्यक्तिपञ्चक—इच्छा, कर्म, विमोहिनी, प्रकृति और वाक्।

१. सि० सि० सं०, १।४२-४५
२. वही, १।४६-४६



प्रत्यक्षकरणपञ्चक एवं उनके गुण—'जिन प्रधान साधनों द्वारा जीव को इस जगत् में सुख-दुःख का उपभोग करना पड़ता है, उनकी संख्या पाँच है—कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि। बिन्दु रूप शरीर के निमित्त-कारण कर्म और वासना माने जाते हैं। यह संसार अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण सोमरस भोग्य और अग्नि शोषक भोक्ता है तथा इन दोनों के संयोग से जगत् की स्थिति मानी जाती है, केवल एक के रहने पर नहीं। यथा भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त हो जाने से शरीर की स्थिति असम्भव है तथैव केवल अग्नि मात्र से भी स्थिति नहीं हो सकती। इन दोनों के समीकरण से ही जगत् की स्थिति सम्भव होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूर्य और अग्नि को दो पृथक् रूपों में स्वीकार किया गया है। सूर्य की बारह कलाएँ और अग्नि की दस कलाएँ भोक्ता हैं। तथा सोम की सोलह कलाएँ भोग्य हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से समस्त जगत् बनता है। इस शरीर का

१. सि० सि० सं०, १।५०-५३

माता के रज और पिता के वीर्य से निर्माण होता है। रज सोम और वीर्य अग्नि और सूर्य रूप है। अतः शरीर का उपादान कारण अग्नि और सूर्य हैं। यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं तथापि जिसका अंश जहां अधिक रहता है, उसका उसी पद से व्यवहार होता है। कला शब्द से अभिप्राय है—चित्त से मिली हुई शक्ति'।[1]

इस प्रकार काम, कर्म, अग्नि, चन्द्र और सूर्य रूप प्रत्यक्षकारी पञ्चक के गुण इस प्रकार हैं—

१. काम

(१) रति, (२) प्रीति, (३) लीला, (४) आतुरत्व (५) अभिलाषा।

२. कर्म

(१) शुभ, (२) अशुभ, (३) कीर्ति, (४) अकीर्ति, (५) इच्छागत।

३. चन्द्र

(१) उल्लोल, (२) कल्लोल, (३) उच्चलत्व, (४) उन्माद, (५) ऊर्मि, (६) विलेपन (७) लहरी, (८) विलोला, (९) विलेलिहास, (१०) प्रसरा, (११) प्रवृत्ति, (१२) स्रवन्तिका, (१३) नामवती, (१४) प्रवाहा, (१५) सौम्या और (१६) प्रसन्ना। (इस प्रकार चन्द्र की सोलह कलाएँ तथा सत्रहवीं उसकी स्व अमृत कला है।)

४. सूर्य

(१) तपिनी, (२) ग्रासिनी, (३) क्रूरा, (४) कुञ्चनी, (५) शोषणी, (६) बोधिनी, (७) स्मरा, (८) कर्षिणी, (९) अर्थसन्तुष्टिवर्धिनी, (१०) ऊर्मिरेखा, (११) किरणिनी और (१२) प्रभावती। (तेरहवीं कला स्व-प्रकाशिका कला है और यह सूर्य की निज कला है)।

५. अग्नि

(१) बीजिनी, (२) दीपिका, (३) ज्वाला, (४) विस्फुलिङ्गा,

---

१. सि० सि० प०—पृ०, ९७

(५) प्रचण्डिका, (६) पाचिका, (७) रौद्रिका, (८) दाहा, (९) रोचिनी और (१०) शोषिणी। (ये अग्नि की दस कलाएँ हैं और ज्योति उसकी ग्यारहवीं निज कला है।) इस प्रकार प्रत्यक्षकरण के पाँच भेद तथा उनके गुणों एवं कलाओं का निरूपण समाप्त हुआ।[1]

दश मुख्य नाड़ियाँ तथा उनका स्थान—दश मुख्य नाड़ियों तथा दश मुख्य द्वारों के प्रसंग में यह बता देना अनिवार्य होगा कि लिङ्ग के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान मूलकन्द है। शिवस्वरोदय में कहा गया है कि नाड़ियाँ नाभिस्थान के कन्द से ऊपर अंकुर के समान निकली हैं तथा देह मध्य बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं। नाड़ी में स्थित तथा सर्प सदृश कुण्डलिनी शक्ति है, उससे ऊपर दश और नीचे दश नाड़ियाँ हैं। दो-दो नाड़ियाँ तिरछी गई हैं। इस प्रकार इन चौबीस नाड़ियों में दश नाड़ियाँ प्रधान हैं और दश वायु प्रवाहिका हैं। उन दश नाड़ियों में तीन इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना श्रेष्ठ हैं।[2] इसी प्रकार का उल्लेख योगमार्तण्ड,[3] योगचूडामण्युपनिषद्[4] और ध्यानबिन्दूपनिषद्[5] में भी प्राप्त होता है।

इन सब नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है क्योंकि सुषुम्ना अग्नि, चन्द्र और सूर्य स्वरूपा कही गई है और इसी सुषुम्ना के अन्तर्गत विद्यमान ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिए।[6] सुषुम्ना नाड़ी के प्रवाह में भोग और मुक्ति फल के देने वाले कार्यों को ही करना चाहिए।[7] इस परम्परा के अतिरिक्त अन्य भारतीय परम्पराओं में भी नाड़ी-ज्ञान विषयक सन्दर्भ का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ कहा गया है कि "हृदय के अनाहत चक्र में

---

१. सि० सि० सं० १।५४-६१
२. शिवस्वरोदय, ३२-३६
३. ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति (निः) खगांडवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्तति॥
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥
—योगमार्तण्ड, १६-१७
४. योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१
५. ध्यानबिन्दूपनिषद्, ५०-५८
६. चक्रकौमुदी, १।१३
७. शिवस्वरोदय, ६१

कमल के आकार का मांस पिण्ड है जो कि सुषुम्ना नाड़ी पर स्थित है। वह मांस पिण्ड आँतों से घिरा होने के कारण 'पुरीतत' कहलाता है। इस पुरीतत के मध्य में आकाश है, उसी में उपासना ध्यान करने का विधान है। सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध ७२ हजार नाड़ियाँ हैं जिन्हें उपनिषद् में 'हिता' नाड़ियाँ कहा गया है। वहाँ हिता का तात्पर्य सहयोगी या उपकारी किया गया है। इन हिता नाड़ियों के अनेक रङ्ग कहे गए हैं।[१] सुषुम्ना नाड़ी से विशेष सम्बन्धित अंकुरित होने वाली कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा आदि १२ नाड़ियाँ हैं। ये सुषुम्ना की विशेष हितैषी नाड़ियाँ हैं। हृदय के अनाहत चक्र में आठ दल का अरुण (लाल) वर्ण का कमल है जिसके मध्य में छः कोण हैं। मध्यवर्त्ती कोण का रंग धूम्र है। इस अनाहत यन्त्र के ईशान कोण से जिस प्रधान नाड़ी का सम्बन्ध है उसी से इस यन्त्र का संचालन होता है।[२] ईशान कोण की नाड़ी में ही मुख्य प्राण तत्त्व का स्थाई निवास है। यह प्राण ही अयास आंगिरस है, जो कि अङ्गों का सार रूप प्रधान रस तत्त्व है। सम्पूर्ण नाड़ियाँ इसकी अंग हैं।[३] हृदय से सम्बद्ध १०१ मुख्य नाड़ियाँ हैं। इनमें सुषुम्ना ही प्रधान है।"[४]*

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में नाड़ियों का स्थान निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि इड़ा और पिङ्गला क्रमशः दोनों नासिकाओं में, सुषुम्ना मध्य में, गान्धारी और हस्तिजिह्वा दोनों कर्णों में, शंखिनी लिङ्गद्वार में, पूषा और अलम्बुषा दोनों नेत्रों में, पयस्विनी मुख द्वार में रहती है और कुहू नाड़ी का स्थान गुदा प्रदेश है।[५] सिद्धसिद्धान्तपद्धति, शाण्डिल्योपनिषद् और योगचूडामण्युपनिषद् में नाड़ी स्थान में भेद प्राप्त होता है।[६] शिवस्वरोदय शास्त्र में नाड़ी स्थान

---

१. बृह०, ४।४।२०, कौषीतकि ब्राह्मण, ४।४।१९
२. बृह०, ६।३।५
३. वही, १।३।१९
४. छान्दोग्योपनिषद्, ८।७।६।६
\+ श्री निम्बार्क वेदान्त—पूर्वार्ध – पृ० १२१-१२२
५. सि० सि० सं०, १।६२-६४
६. (क) सि० सि० प०, १।६७,
(ख) शाण्डिल्योपनिषद्, १।९-११
(ग) योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१

निर्धारित करते हुए वर्णित हैं कि इडा वाम भाग में, पिंगला दक्षिण भाग में, सुषुम्ना मध्यदेश में, गान्धारी वाम नेत्र में, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, अलम्बुषा मुख में, कुहू लिङ्ग देश में और गुदास्थान में शंखिनी नाड़ी जाननी चाहिये।[1] "श्री निम्बार्क मत में सुषुम्ना श्री राधा हैं। ललिता पिङ्गला नाड़ी है तथा रंगदेवी इड़ा नाड़ी है। पिङ्गला चन्द्र नाड़ी तथा इडा सूर्य नाड़ी है। चन्द्र नाड़ी पोषण करती है तो इड़ा उन्मीलन (प्रेरणा) करती है। "उन्मीलनी तु साज्ञेया विशेषेण हरिप्रिया" पद्मपुराण-६।३६।३४ उन्मीलनी को ही हरिप्रिया समझना चाहिए।[2] इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का उल्लेख तोडलतन्त्रम् में भी प्राप्त होता है।[3]

बौद्ध मत में "बांई से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं। जिनमें पहली प्रज्ञा-चन्द्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशीला हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्ना की समशीला है। इस नाड़ी से प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है।"[4]

दश वायु एवं उनका स्थान—नाड़ियों के आश्रय वायु भी दस माने गए हैं—यथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त

---

१. इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा॥
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः॥ शिवस्वरोदय, ३८-४०

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७७

३. एवं क्रमेण देवेशि शरीरे नाड्यः स्थिताः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना मध्यवर्तिनी॥ तोडलतन्त्रम्, २।१२

४. ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥
हे वज्र—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०२

और धनञ्जय। इनमें हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु का वास रहता है। उद्गार में नाग, नेत्रों के उन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल, विजृंभण में देवदत्त और सर्व-शरीर में व्यापी धनञ्जय वायु मृतशरीर का भी त्याग नहीं करता। जीवरूप ये दश वायु नाड़ियों में भ्रमण करते हैं।[1]

इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। जहाँ निर्दिष्ट है कि आहार हेतु हृदय में प्राण, कुम्भक-स्तम्भन हेतु गुदा में अपान, जठराग्नि प्रदीप्त हेतु नाभि में समान, नाड़ी विशुद्धि हेतु कण्ठ में उदान और अशन तथा जल्प हेतु तालु समाश्रय व्यान है।[2]

व्यान हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यान वायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन, मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बल-वृद्धि का भी कारक है।[3] अमृतनादोपनिषद् में कहा गया है कि प्राणवायु लोहित मणि, अपान इन्द्रगोप, समान गोदुग्ध, उदान धूसर और व्यान अग्नि शिखा के समान वर्ण एवं तेज वाला है।[4]

---

१. नामानि नाडिकानां तु वातानां तु वदाम्यहम्।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानोव्यान एव च॥
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधाना दश वायवः॥
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः।
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्॥
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुतकृतज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः॥ शिवस्वरोदय, ४२-४७

२. सि० सि० सं०, १।६६

३. सि० सि० प०—पृ० १०३-१०४

४. अमृतनादोपनिषद्— ३४-३७

मोडनोच्चाटन हेतु नाग सर्वाङ्गव्यापी, उन्मेषार्थ नेत्रों में कूर्म, भूख और उद्गार हेतु नासिका में कृकल, विजृम्भण हेतु मुखाग्र देवदत्त और अव्यक्त शब्द की उद्घोषणा हेतु कण्ठ से नीचे धनञ्जय की विद्यमानता है।[1] इस प्रकार इन दश वायुओं का निरूपण हुआ। अनेक ग्रन्थों में इन दश वायुओं में से प्रथम पाँच को मुख्य प्राणवायु एवं बाद के पाँच वायुओं को उपप्राण वायु कहा गया है।

गर्भपिण्ड—गर्भ पिण्डोत्पत्ति के निरूपण में निर्दिष्ट है कि ऋतुकाल में बिन्दु और रज के आश्रय से स्थूल जीव की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाने वाला शक्ति-विशिष्ट चैतन्य ही वास्तव में बिन्दु है क्योंकि बिन्दु शिव रूप और बीज शक्ति रूप है तथा उसी के समवाय को नाद कहते हैं।[2] योगचूडामण्युपनिषद् में उक्त है कि बिन्दु ब्रह्मा है और रज शक्ति है, बिन्दु चन्द्र है और रज सूर्य रूप है। इन दोनों के संगम में परम पद की प्राप्ति होती है। जब वायु से चालित रज बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तो देह दिव्य हो जाती है।[3]

रज और बिन्दु के सम्मिश्रण से उत्पन्न जीव की गर्भावस्था में विकासावस्था को दर्शाते हुए वर्णित है कि प्रथमावस्था में रज-वीर्य में गाढ़ापन, एक सप्ताह में बुलबुले सदृश और पक्षानन्तर वह बुलबुला गोलाकार रूप हो जाता है। प्रथम मास में वही गोला कठिन अवस्था में, द्वितीय मास में उसी गोले से शिर; तृतीय मास में हाथ पैर आदि, चतुर्थ मास में नेत्र, चक्षु आदि, पंचम मास में पृष्ठ और उदर, षष्ठ मास में केश, नख, रोम आदि, सप्तम मास में चेतना युक्त, अष्टम मास में बाल लक्षण, नवमास में तत्त्वज्ञान (अर्थात् पूर्व जन्मों के संस्कारों एवं गर्भ नरक से मुक्ति की प्रार्थना से युक्त*) और

---

१. सि० सि० सं० १।६७-७०

२. बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः॥

३. योगचूडामण्युपनिषद्, ६२-६३

* उस समय गर्भ में जीव सोचता है कि अपने हजारों जन्मों को देखा और उनमें विभिन्न प्रकार के भोजन किये तथा विभिन्न योनियों में स्तन पान किया। मैं अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ। उन-उन जन्मों में किये शुभ एवं अशुभ कर्मों को विचार कर मैं अब अकेला ही दग्ध हो रहा हूँ। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो महेश्वर

दश मास में योनि स्पर्श से नष्ट ज्ञानवान् अज्ञानी जीव उत्पन्न होता है। गर्भ में वीर्य की अधिकता से पुरुष एवं रज की अधिकता से स्त्री और इन दोनों के समभाव होने पर जीव नपुंसकत्व को प्राप्त करता है।[1] इसी प्रकार चरक-संहिता में भी गर्भ की विकासावस्था पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।[2]

रतिकाल में स्त्री एवं पुरुष के चित्त की प्रतिकूलता से जीव (शरीर) छोटा, कुबड़ा और अंगहीन होता है। वीर्य का रोधक गति से पतन अधिक जीवों की उत्पत्ति का कारण होता है। गर्भस्थ बालक के शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, दस पल मेद, लगभग इतनी ही मज्जा, शत पल माँस, दस पल पित्त, तीन सौ साठ अस्थियाँ, इतनी ही सन्धियाँ और साढ़े तीन करोड़ रोम कूप होते हैं। इस प्रकार रज और वीर्य संयोग के परिणाम से मज्जा, अस्थि, मेद इत्यादि दस धातुमय गर्भपिण्ड का निर्माण होता है।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के प्रथमोपदेश में सूक्ष्मता से स्थूलता का विकासोन्मुखी निरूपण समाप्त हुआ।

की शरण जाऊँगा। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो नारायण का आश्रय लूंगा अथवा सांख्य-योग की साधना करूँगा। ब्रह्म चिन्तन में समय व्यतीत करूँगा। इस प्रकार से विचार करता हुआ जीव बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है, किन्तु जन्मोपरान्त माया के स्पर्श से पूर्व जन्मों और मृत्युओं को भूल जाता है। उसे अपने गर्भ-नरक का भी बोध नहीं रहता और उसके शुभ-अशुभ कर्मों का भी लोप हो जाता है। —गर्भोपनिषद्, ४

१. सि० सि० सं०-१।७२-७४
२. चरक-संहिता—शरीर स्थानम्—अध्याय ४
३. सि० सि० सं०, १।६३-७८

द्वितीयोपदेश:

पिण्डोत्पत्ति प्रकरणानन्तर पिण्डविचारविमर्शान्तर्गत विषय वासना से चलायमान मन को अवरुद्ध करने के निमित्त पिण्डस्थ नवचक्रों,* सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टांग योग का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त एवं संक्षिप्त और लक्षणों सहित किया गया है। चक्रनिरूपण के प्रसंग में सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना नितान्त अनिवार्य है कि चक्रों की संख्या में इस परम्परा में कुछ मतभेद अवश्य रहे होंगे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[1] योगराजोपनिषद्[2], षडाम्नायतन्त्र[3] इत्यादि ग्रन्थों में जहाँ नवचक्रों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं गोरक्षपद्धति,[4] शिवमहापुराण,[5] योगचूडामण्युपनिषद्[6] और सौन्दर्यलहरी[7] इत्यादि ग्रन्थों में षट्चक्रों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्थानुसार यहाँ

---

* प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीरस्थ नवचक्रों की विद्यमानता निर्दिष्ट है, किन्तु यहाँ सात चक्रों के ही श्लोक उपलब्ध हैं। —सि० सि० सं०, २।१

१. पिण्डे नवचक्राणि। सि० सि० प०, २।१

२. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥ योगराजोपनिषद्, ५

३. नवचक्राः कलाधाराः त्रिशून्यं पञ्चव्योमकम्।
—षडाम्नायतन्त्रम्, ४।४३

४. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गोरक्षपद्धति, १।१३

५. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्चक्रं परिचिन्तयेत्।
विद्युत्कोटिसमप्रख्यं सर्वतेजोमयं परम्॥ शिवमहापुराण, ६।४।७

६. षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
योगचूडामण्युपनिषद्, ३

७. महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥ सौन्दर्यलहरी, ९

शरीरस्थ नवचक्रों का ही उल्लेख किया जा रहा है—प्रथम ब्रह्म चक्र (मूलाधार चक्र)[1] का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि यह चक्र मूलाधार में तीन वलयों से आवृत, भगमण्डल सदृश है, उसी के समीप मूलकन्द में अग्नि* सदृश देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी को कामरूपपीठ कहते हैं तथा इसके ध्यान से सर्वकामनाओं की पूर्त्ति होती है।[2] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के मध्य योनिस्थान को ही कामरूप पीठ कहते हैं।[3] षट्चक्रनिरूपण में निर्दिष्ट है कि गुदा से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे मूलाधार पद्म है। जिसके चार सुवर्णाभा सदृश व से स तक के वर्णरूप पत्र हैं।[4]

---

१. वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा, तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिकेतिवत् मूलस्याधार इति व्युत्पत्ति प्रदर्श्यते तत्राध्यात्मिकप्राणवायुसहिता चित् शक्ति शरीरकारणत्वात् ब्रह्म-चक्रम्, त्रिधावर्तम्, त्रिवलयान्वितम् क्वचित् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युप-लभ्यते न तेन विरोधश्चतुष्ट्वसंख्यापूर्तिपर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते यथाऽमर कोश आदशतः संख्या संख्येय इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादश पर्यन्तं गृह्यते (भगमण्डलाकारम्) अधोमुख त्रिकोण यन्त्रम् तत्रेत्यौपश्लेषिका सप्तमी तथा च तत्समीपे किंचिदूर्ध्वदेशे मूलकन्दः पक्ष्यण्डसरूपं एतस्मादेव सर्वानाड्यः प्ररोहन्ते"

—सि० सि० प० पर श्रीद्रव्येश झा कृत संस्कृत टीका

* अग्नि—मानव देह में तप्त सुवर्णाभा सदृश तीन, चार पैर वाले पशुओं में चार, पक्षियों में गोल, सर्प जाति में छः और स्वेदजों में आठ कोण वाला अग्नि विद्यमान रहता है।

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, ५६-५७

२. सि० सि० सं०, २।२-३

३. आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते॥ गोरक्षपद्धति, १।१७

४. अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युक्तं वेदवर्णैः॥

षट्चक्रनिरूपणम्, ४०-७

शिवपुराण[1] और चक्रकौमुदी[2] में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। त्रिकोण की चर्चा करते हुए चक्रकौमुदीकार कहते हैं कि इस चक्र की चतुर्दल कर्णिका में अतिसुन्दर ऊर्ध्वकोण त्रिकोण है; उसके ऊर्ध्व कोण में सुषुम्ना, वाम में इडा और दक्षिण में पिङ्गला की स्थिति है।[3] यह मत षट्चक्रनिरूपण से सम्भवतः गृहीत है।[4] योगराजोपनिषद् में वर्णित है कि प्रथम चक्र भगाकृति युक्त तीन बार आवृत ब्रह्मचक्र है। अपान स्थल में मूलकन्द, जिसे कामरूप कहते हैं, उसी को वह्निकुण्ड तथा कुण्डलिनी कहा जाता है। मुक्ति हेतु उस ज्योति स्वरूप जीव का ध्यान परमावश्यक है।[5]

योगशिखोपनिषत् में भी कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार त्रिकोण ही निर्दिष्ट है।[6] हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पृथ्वी के आधार सर्पों के अधिपति शेषनाग की भाँति सम्पूर्ण योग-तन्त्रों की आधार यह कुण्डलिनी जब गुरु के प्रसाद से जागृत हो उठती है, तब सभी पद्म और सभी ग्रन्थियाँ

---

१. शिवपुराण-७।२।३८।६९

२. चक्रकौमुदी-१।६

३. कर्णिकायामूर्ध्वकोणं त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
ऊर्ध्वकोणे सुषुम्णाख्या वामदक्षिणयोः क्रमात्॥
इडाख्यापिङ्गलाख्या हि वीणातन्तुवदास्थिता।
इडा तु चन्द्रनाडी स्यात् पिङ्गला सूर्यनाडिका॥ वही, १।११-१२

४. षट्चक्रनिरूपण-६।६

५. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः।
प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तभगाकृति॥
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः।
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा॥
तां जीवरूपणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे॥
—योगराजोपनिषद्, ५-७

६. गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते।
यत्र कुण्डिलनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता॥
—योगशिखोपनिषद्, १।१६८-१६९

स्वयमेव ही खुल जाती हैं।[1] प्रसुप्त सर्पाकृति सदृश यह शक्ति नित्य है और इसी को प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति जब सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था से युक्त होती है तब चित्कला से सम्बोधित होती है। और जब इसके अर्द्धांश में ब्रह्म संश्लिष्ट होते हैं तब यह ईश्वरी कहलाती है। सत्त्व, रजस् और तमस् इसके तीन वलय और अर्धवलय ब्रह्मांश कहलाता है। इसी को शब्दब्रह्म कहते हैं एवं यही समस्त वर्णों के रूप में उपस्थापित होकर गद्य-पद्य भेद से समस्त भूमि मण्डल में परिव्याप्त है।[2]

शिव-संहिता में इस चक्र के निरूपण के प्रसङ्ग में वर्णित है कि गुदा से दो अङ्गुल ऊर्ध्व और मेढ्र से एक अंगुल अधः, चार अङ्गुल प्रमाण के कन्द में कुण्डलिनी का वास है। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों को आवृत्त कर साढ़े तीन वलय लगाकर मुख में पूँछ को धारण कर सुषुम्ना विवर में ठहरती है। यह शक्ति सर्पाकृति, निज प्रकाश से प्रकाशित, वाग्देवी बीज संज्ञक है। भगवान् विष्णु की यह शक्ति तपाये हुए सुवर्णाभा युक्त त्रिविध* गुणों की उत्पादिका है। इसी स्थान पर बन्धूक पुष्प सदृश रक्तवर्ण की आभा लिये हुये कामबीज स्थित है। इसी कामबीज के साथ सुषुम्ना की विद्यमानता है। बीजसंज्ञक त्रिपुर भैरवी (कुण्डलिनी, कामबीज और सुषुम्ना का एकीकरण) क्रिया एवं ज्ञानशक्ति से समन्वित होकर सम्पूर्ण शरीर में विचरती है। यही बीज प्रज्वलित वह्नि सदृश आभामय होकर बिन्दुरूप से योनिस्थान में स्वयंभूलिंग की संज्ञा पाता है। यही आधार पद्म है और जिसके मध्य की योनि में कुण्डलिनी है। जिसके ऊपर अत्यन्त तेजस्वी कामबीज भ्रमण करता है। इस चक्र के ध्यान से साधक को दादुरी वृत्ति,

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥
—हठयोगप्रदीपिका-३।१-२।

२. चक्रकौमुदी, १।२२-२७

* तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन स्वर, तीन अग्नि और तीन गुण
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम्॥
—योगतत्त्वोपनिषद्, १३४-१३५

आकाशमार्गी की सामर्थ्य, शरीर में कान्ति और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।[1] स्वामी विवेकानन्द जी के मतानुसार "प्राणायाम से पहले त्रिकोणमण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आँखें बन्द करके इसके चित्र को मन-ही मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पनाशक्ति जितनी अधिक है, वो फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है।"[2]

कुण्डलिनी के उत्थापन से समस्त जागतिक साधनाएँ उसी प्रकार से दग्ध प्राय: हो जाती हैं जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि काष्ठ को स्वयमेव दग्ध कर डालती है। डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित की जाती है अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना मात्र······अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्रयोगादि......यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषाकारसापेक्ष अथवा कर्तृत्वाभिमान जन्य है। यह कर्तृत्व-बोधक्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है और कर्त्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जाग्रत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।"[3]

---

१. शिव-संहिता, ५।७४-८७

२. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ०, २१

३ भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज

द्वितीय चतुर्दल युक्त (अन्य ग्रन्थों में इसे षड्दल युक्त कहते हैं)[1] स्वाधिष्ठान चक्र है, वहाँ प्रवाल (मूंगा) की आभा वाले पराङ्गमुख शिवलिङ्ग का ध्यान करना चाहिए। वहीं उड्डीयान पीठ है। इस शिव-लिङ्ग के ध्यान से जगदाकर्षण की सामर्थ्य साधक को सिद्ध होती है।[2] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि रक्तवर्णी इस षट्दलकमलकर्णिका में निर्गुण अथवा सगुण ज्योतिःस्वरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान से योगी को आनन्दावस्था की प्राप्ति होती है।[3]

यहाँ स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है, इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिङ्गमूल) है। प्राण का अधिष्ठान होने से उसे ही मेढ़ कहा जाता है।[4] योगराजोपनिषद् में उक्त है कि द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र है, जो मध्य में स्थित है। वहाँ पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग प्रवालाङ्कुर सदृश है। उड्डीयाण पीठों में उसका ध्यान कर समस्त जगत् का आकर्षण करना चाहिए।[5] षट्चक्र-निरूपण में इसकी शक्ति राकिनी निर्दिष्ट है।[6]

शिवसंहिता में द्वितीय चक्र हेतु निर्दिष्ट है कि द्वितीय कमल लिङ्गमूल में छः दलों वाला रक्तवर्णी है। इसके स्थान में बाण संज्ञक सिद्ध और राकिणी नाम अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित है। इसका देवता ब्रह्मा है। इस पद्म पर ध्यान से साधक के प्रति अङ्गनाएँ आकर्षित होती हैं तथा वह अश्रुत शास्त्रों पर भी व्याख्यान कर सकता है। उसे आरोग्य सिद्धि और भय से मुक्ति प्राप्त होती है। वह किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता। उसे अणिमादि ऐश्वर्यों के साथ-साथ शरीर में वायु-संचार और उसके शरीर में रस की अभिवृद्धि होती है।[7]

---

१. (क) गोरक्षपद्धति—१।१५, २।६५
(ख) योगचूडामण्युपनिषद्, ४
(ग) लिङ्गमूले स्मरेत्पद्मं सिन्दूराभन्तु षड्दलम्।
बादिलान्तयुतन्तस्मिन् मण्डलं ध्येयमम्भसः॥
—चक्रकौमुदी, २।२

२. सि० सि० सं०, २।४-५

३. गोरक्ष पद्धति, २।६५

४. स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते॥ वही, १।२२

५. योगराजोपनिषद्, ७-८

६. षट्चक्रनिरूपणम्, ६।१८

७. शिवसंहिता, ५।९८-१०३

भूतशुद्धितन्त्रम् में स्वाधिष्ठान चक्र का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त किया गया है।[1]

तृतीय नाभिचक्र है जिसको अन्य ग्रन्थों में मणिपूरक चक्र से अभिहित किया गया है। उस पंचावृत्त प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा सदृश कुटिल आकार[2] वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए।[3] योगराजोपनिषद् में इस चक्र के सन्दर्भ में कहा गया है कि तृतीय चक्र नाभि में है जिसमें संसार की विद्य-मानता द्योतित है। वहाँ पंचावृत* विद्युत् सदृश मध्यशक्ति का चिन्तन करने से साधक को सर्व सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में इसकी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नाभि-मण्डल स्थित इस चक्र की आभा स्वर्ण सदृश है। दश दल वाले इस कमल की पंखुड़ियों में 'ड' से 'फ' तक के वर्णाक्षर विद्यमान हैं। इस पद्म के ध्यान से पाताल सिद्धि, इच्छाओं की पूर्ति, रोगों का नाश, काल-वञ्चन, परकाया प्रवेश योग्यतादि और निधियों के दर्शन का गुण प्राप्त होता है।[5] शिव-संहिता में वर्णित इस नाभि

---

१ तदूर्ध्वं ध्वजमूले तु पङ्कजं षड्दलं परम्।
स्वाधिष्ठानाख्यमाश्चर्यं सूक्ष्मं सर्वगुणान्वितम्॥
बभमैर्यवलैर्युक्तमारक्तं राकिणीस्थितम्॥
श्यामां शूलाग्रहस्तां डमरूकरयुतां तीक्ष्णटङ्कं वहन्तीम्।
उग्रां रक्तां त्रिनेत्रां शुचिकुटिललसच्चोग्रदंष्ट्रां प्रभाति।
दीप्तां तां देवदेवीं त्रितयकमलगां रक्तधारैकनाथां
शुक्लान्ने सक्तचित्तामभिमतफलदां राकिनीं चिन्तयेत् ताम्॥
रं बीजं कर्णिकायां तु तदन्ते विष्णु लिङ्गकम्॥
—भूतशुद्धितन्त्रम्—१।२०-२२

२. तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥
—योगकुण्डल्युपनिषत्—१।४५

३. सि० सि० सं०-२।६

* मूलाधार में तीन वलयों में और मणिपूरक-चक्र में यह पंचावृत्त होती है।

४. योगराजोपनिषद्, ९-१०

५. शिव-संहिता, ५।१०४-१०८

पद्म के ध्यान से रोगों का नाश होता है।[1] इस तथ्य की पुष्टि जाबाल-दर्शनोपनिषद् से हम यहाँ कर सकते हैं, जहाँ कहा गया है कि इडा-पिङ्गला से वायु का रेचन कर उसका नाभि में अवरोध करने से सभी रोगों का नाश होता है।[2]

चतुर्थ अष्टदल युक्त हृदय चक्र है जिसकी कर्णिका में परमोज्ज्वला शिवलिङ्ग रूपी कान्ति का ध्यान करना चाहिए। सर्व इन्द्रियों को वश में करने वाली यह ज्योति हंसकला संज्ञक है। इसके विधिवत् ज्ञान से योगी सर्वलोक को वशीभूत कर सकता है।[3] शिवयोगदीपिका में भी लिङ्गाकार ज्योति के ही ध्यान का निर्देश दिया गया है।[4] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि चतुर्थ, अधोमुखी चक्र को हृदय में जानना चाहिए और वहाँ प्रकाश स्वरूप हंस (परम ब्रह्म) का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए। इससे सर्व जगत् साधक के वशीभूत हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।[5]

अष्टदल कमल के लिए पद्मपुराण में कहा गया है कि हृदय के सूक्ष्माकाशस्थ अष्टदलकमल के मध्य में श्रीराधा कृष्ण की युगलमूर्ति विराजमान है। उनके "सम्मुख के दल पर ललिता, वायुकोण पर श्यामला, उत्तर में धन्या, ईशनकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा, नैॠत्य में चन्द्रावली क्रमशः विराजती हैं। ये अष्ट सखियाँ कृष्ण की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि आठ प्रकृति की प्रतीक हैं। हरिप्रिया, रङ्गदेवी अहङ्कार की प्रतीक हैं, यही श्री निम्बार्क है।"[6]

---

१. वही.

२. 'नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः'॥
—जबालदर्शनोपनिषद्-२८

३. सि० सि० सं०, २।७-८

४. अधोमुखाष्टपत्राब्जयुतं हृच्चक्रमिष्टदम्।
तन्मध्ये कर्णिकां ज्योतिर्लिङ्गाकारमिमं स्मरेत्।
—शिवयोगदीपिका, ३।११

५. योगराजोपनिषद्-१०-११

६. संमुखे ललितादेवी श्यामला वायुकोणके।
उत्तरे श्रीमती धन्या ऐशान्यां श्रीर्हरिप्रिया॥
विशाखा च तथा पूर्वे शैव्या चाग्नौ ततः परं।
पद्मा च दक्षिणे पश्चान्नैॠते क्रमशः स्थिता॥

योगदर्शन में यही अष्ट प्रमुख आठ नाड़ियाँ हैं।[1]

पंचम चक्र चार अंगुल परिमाण वाला कण्ठ में स्थित है। जिसके वाम भाग में चन्द्र और दक्षिण भाग में सूर्य नाड़ी स्थित है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी का ध्यान करना चाहिए। योगियों के मन्तव्यानुसार अनाहत सिद्धि प्रदायक वही अनाहत कला के नाम से प्रसिद्ध है।[2] इसी प्रकार का वर्णन शिवयोगदीपिका में भी प्राप्त होता है।[3] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि पञ्चम कण्ठचक्र के वाम और दक्षिण भाग में इडा और पिङ्गला नाड़ियाँ स्थित हैं तथा उनके मध्य सुषुम्ना नाड़ी की विद्यमानता है। वहाँ सर्वसिद्धिप्रदायक परम ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[4] श्रीनिम्बार्क वेदान्त पारिजातसौरभ ब्रह्मसूत्र के अधिकरण आठ में कहा गया है कि "एक सौ एक हृदयसम्बद्ध नाड़ियों में मूर्द्धा तक जाने वाली एक विशेष नाड़ी है, उसी से निष्क्रमण कर उपासक अमृतत्त्व को प्राप्त करता है।[5] इस प्रकार श्रुति में कही गई सुषुम्ना नाड़ी विशेष है। उसी नाड़ी को उपासना के सामर्थ्य से और उसके प्रभाव से गमनकाल का ज्ञान हो जाने से प्रसन्न भक्त जब परमात्मा से अपने को अनुगृहीत मानता है, तब उसका तेज हृदय के अग्रभाग में प्रज्वलित हो जाता है, तब परमेश्वर से प्रकाशित सुषुम्ना रूप उस मार्ग को जानकर उसी मार्ग से निष्क्रमण करता है। उपासक मूर्द्धा से जाने वाली सुषुम्ना नाड़ी से निकलकर सूर्य की किरणों के सहारे ऊपर जाता है। जैसा

योगपीठे केदाराग्रे चारु चंद्रावली प्रिया।
अष्टौ प्रकृतया पुण्याः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः॥
—पद्मपुराण—५।७०।५-७

श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७६ से

१. वही, ७७

२. सि० सि० सं०, २।६-१०

३. पञ्चमं कण्ठचक्रं च तत्राङ्गुलिचतुष्टये।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नां सुस्थितां स्मरेत्॥
—शिवयोगदीपिका—३।१२

४. योगराजोपनिषद्—१२-१३

५. कठोपनिषद्—२।३।१६

कि "उस सूर्य की रश्मि द्वारा;' इस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है।"[1]

षष्ठ तालु चक्र है और वहाँ पर स्थित चन्द्रमँण्डल से अमृत स्राव स्रवित होता रहता है। इस अमृत स्राव का प्रवाह शरीर की समस्त नाड़ियों में विद्यमान रहता है। इस चक्र के समीप लिङ्गाकार घण्टिका से लेकर राजदन्त पर्यन्त विवर—जिसको दशम द्वार या शंखिनी विवर भी कहते हैं, पर शून्य के ध्यान से मन का लय करना चाहिए।[2] नाभिमूल में सूर्य और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी वा वास है। सहस्रार से अमृत धारा का प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। सूर्य नाड़ी द्वारा उस अमृत को ग्रसने से मृत्यु और चन्द्र नाड़ी द्वारा ग्रहण करने पर अमरत्व की प्राप्ति होती है।[3] जहाँ से अमृत का स्राव स्रवित होता है, वहाँ पर ध्यान से चित्त का लय हो जाता है। शिवयोग-दीपिका में भी इसी प्रकार का निरूपण प्राप्त होता है।[4] योगराजोपनिषद् में भी इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि छठा तालुचक्र जिसको घण्टिका स्थान कहा जाता है और जो दशम द्वार का मार्ग है उसे राजदन्त कहते हैं। वहीं शून्य में मन का लय करने से मुक्ति प्राप्त होती है।[5]

सप्तम और अष्टम चक्रों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। कराल काल अथवा अन्य किसी हेतु पर दोषारोपण करने की जगह; इन दोनों चक्रों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों की सहायता से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सप्तम चक्र दो दलों से युक्त भ्रूचक्र है। इसी भ्रूमध्य चक्र में दीपशिखा के आकार सदृश अंगुष्ठ परिमाण का ज्ञान नेत्र है, वहीं पर साधक द्वारा

---

१. (क) सू०—तदेकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारोविद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्चहार्दानुग्रहीतशताधिकया।
(ख) रश्म्यनुसारी। ब्रह्मसूत्र, ४।२।१६-१७
(ग) श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध पृ० १६८

२. सि० सि० सं०—२।११

३. नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः॥ घेरण्डसंहिता—३।३३

४. शिवयोगदीपिका, ३।१३

५. योगराजोपनिषद्, १३-१४

ध्यान लगाने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है ।[1] योगराजोपनिषद् के अनुसार सप्तम चक्र भ्रूचक्र है, जिसे बिन्दु स्थान कहा जाता है । यहाँ वर्त्तुलाकार ज्योतिपुञ्ज के ध्यान से साधक मुक्त हो जाता है ।[2] शिवसंहिता में दो दलों वाले भ्रूमध्य स्थित चक्र को आज्ञाचक्र माना है । इस पर तीन पीठ विराजित हैं जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहते हैं । इसके ध्यान से साधक मोक्षाधिकारी होता है ।[3]

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र में सूचिका के अग्रभाग सदृश धूमशिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र कहलाता है । जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है, वहीं पर जालन्धर पीठ है ।[4] योगराजोपनिषद् के अनुसार अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र परं मोक्ष का संज्ञक है । उस धूम्रवर्ण सूचिका का ध्यान कर योगी मोक्ष पाता है । उसे जालन्धर समझना चाहिए जो नीलवर्णी एवं मोक्ष-प्रदायक है ।[5]

---

१. (क) सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रम् ।
दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ॥
—सि० सि० प०, २।७

(ख) भ्रूचक्रं सप्तमं त्वेकं नालं कन्दं सुवाक्प्रदम् ।
ध्यायेद्दीपशिखाकारं तन्मध्ये ज्ञानलाञ्छनम् ॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१४

२. भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद्विदुः ।
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ॥
—योगराजोपनिषद्, १५

३. शिव-संहिता, ५।१२२-१४८

४. (क) अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं, धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति ॥
—सि० सि० प०, २।८

(ख) ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं निर्वाणाख्यं सुसूक्ष्मकम् ।
तत्र जालन्धरं धूमशिखाभं मोक्षदं स्मरेत् ॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१५

५. अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ।
तं ध्यात्वा सूचिकाग्राम धूमाकारं विमुच्यते ॥
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसाम् ॥
—योगराजोपनिषद्, १६-१७

नवम चक्र सहस्रदलयुक्त ब्रह्मचक्र है। वहाँ गोक्षीराभा वाले हंस के ध्यान से योगी का परमपुरुष से एकाकार होता है।[1] सिद्धसिद्धान्त पद्धति के अनुसार नवम चक्र आकाश-चक्र है। वह सहस्रदल कमल के ऊपर मध्य भाग में सोलहदल सहित और ऊर्ध्वमुखी है। इसकी मध्य कर्णिका में त्रिकोणाकार ऊर्ध्वमुखी पराशक्ति का ध्यान करने से साधक की समस्त कामकाएँ पूर्ण होती हैं। इसी का नाम पूर्णगिरि है।[2] शिवयोगदीपिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] योगराजोपनिषद् के अनुसार नवम व्योमचक्र सोलह दल वाले के मध्य पराशक्ति स्थित है। उस पूर्णगिरि में पूर्णशक्ति के ध्यान से योगी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक चक्र के ध्याम से योगी को प्रतिदिन मुक्ति से युक्त सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है। जो योगी ज्ञान चक्षु से कदम्बगुच्छ के सदृश गोलाकार मध्यस्थित दण्ड को देखता है वह ब्रह्मलोक का अधिकारी है। ऊर्ध्व शक्ति के निपात तथा अधः शक्ति के संकोचन और मध्य शक्ति को जागृत करने पर परम सुख की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में वर्णन है कि शिर में स्थित कपाल विवर में सोलह कलाओं से युक्त एवं अमृत कलाओं से सम्पन्न हंसाख्या संज्ञक निरञ्जन के ध्यान से उसका साक्षात्कार होता है।[5] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में प्रयुक्त हंस शब्दार्थ ज्ञान हेतु उपनिषदों का विश्लेषण अत्यावश्यक हो जाता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् के अनुसार हंस रूपी विद्यामृत सदृश इस मर्त्यभूमि में नित्यत्व का अन्य कोई साधन नहीं है। जो इस हंस संज्ञक परमेश्वरी विद्या को प्रदान करता है, उसकी सेवा सदैव करनी चाहिए।[6] हंसोपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम गुदा का आकुञ्चन कर आधार

---

१. सि० सि० सं०, २।१२

२. नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छा सिद्धिर्भवति इति। —सि० सि० प०, २।९

३. आकाशचक्रं नवमं प्रशस्तं त्रिकूटकं पूर्णगिरीशपीठम्।
तत्रोर्ध्वशक्तिं शुभदां सुशून्यां ध्यायेद्द्वयाष्टारसरोजमध्ये॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१६

४. योगराजोपनिषद्, १७-२१

५. शिव-संहिता, ५।१७५-१८५

६. ब्रह्मविद्योपनिषद्, २६-२७

चक्र की वायु का बहिर्गमन कर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणा कर मणिपूरक चक्र में जाकर अनाहत चक्र का अतिक्रमण कर विशुद्ध चक्र में प्राण का अवरोध कर आज्ञाचक्र का ध्यान कर, ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार त्रिमात्रा आत्मा मैं हूँ, ऐसा ध्यान होने पर आधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त नाद होता है। वही स्वच्छ स्फटिक तुल्य परमात्मा है।......एतदुपरान्त अष्टदल हृदयपद्म में हंसात्मा का ध्यान करना चाहिए। अग्नि और सोम हंस के पंख, ओंकार मस्तक, बिन्दु नेत्र, रुद्र मुख, रुद्राणी चरण, काल बाहु और दोनों बगलें अग्नि स्वरूप हैं। पश्यन्ती तथा अनाकार (सगुण और निर्गुणब्रह्म) दोनों पार्श्व रूप हैं। ऐसा जो परमहंस है, वह करोड़ों सूर्य सदृश प्रकाशवान और सभी उससे व्याप्त हैं।[1] पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में उक्त है कि छियानवे तन्तुओं के रूप में व्यक्त, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय, नौ तत्त्वों से तिगुणा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से युक्त, चिद्ग्रन्थि से बँधा, अद्वैतग्रन्थियुक्त, यज्ञ के साधारण अंगरूप में बाह्य और आन्तरिक का प्रकाशक यज्ञोपवीत हंस ही है।[2]

मुख्य उपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् को वशीभूत करने वाला हंस रूपी परमात्मा ही इस नव इन्द्रियों से युक्त इस देह के अन्दर और बाह्य जगत् में लीला करता है।[3]

नादबिन्दूपनिषद् के अनुसार 'प्रणव' को यदि हंस माना जाए तो 'अकार' उसका दाहिना पंख, 'उकार' उनका बायाँ पँख, 'मकार' पूंछ और अर्द्धमात्रा सिर है। सतोगुण शरीर, रजस् और तमस् दोनों पैर, नाभि में महर्लोक, कटि में स्वर्लोक, जानुओं में भुवर्लोक और पैरों में भूलोक है। इसी प्रकार जन, तप और सत्य लोक क्रमशः उसके हृदय, कण्ठ और ललाट में स्थित हैं। अतः प्रणव रूपी हंस पर चढ़कर उसके ध्यान से साधक मोक्ष पाता है।[4] उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इस शब्द का निरूपण प्राप्त होता है। चक्रकौमुदी के अनुसार 'हंस' में हम् पुरुष और सः प्रकृति का वाचक है। अतः हंस शब्द में पुरुष और प्रकृति दोनों का एक साथ बोध

---

१. हंसोपनिषद्, ५-२१
२. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, १४-१५
३. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१८
४. नादबिन्दूपनिषद्, १-५

होता है।[1] जीवन लक्ष्य और साधना में काशी खण्ड के एक पद्य[2] को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "केवल प्राण अर्थात् हंस शब्द से जीव का सम्बन्ध होना चाहिए। यह हंस प्रवाह मणिपूरचक्र से मायाचक्र तक है। इसमें सत्त्व-गुणात्मक चैतन्य ईश्वर का वास है और जीव मणिपूरचक्र के नीचे अपानवायु के साथ सोऽहं प्रवाह में प्राप्त होता है और इन दोनों प्रवाहों की एक दूसरे के परस्पर आकर्षण से विषमगति होती है।[3]"

चक्रों का विस्तृत निरूपण करते हुए जीवन लक्ष्य और साधना में कहा गया है कि "मनुष्य के पृष्ठ भाग के बीचोबीच जो लम्बी हड्डी है उसको मेरुदण्ड कहते हैं। वह खोखला है। उसके भीतर एक सुषुम्ना नाड़ी है वह भी खोखली है, उसके भीतर कमल के फूल हैं, उन फूलों की कर्णिका भेदकर वज्रा नाड़ी का प्रवाह है, उस वज्रा नाड़ी के भीतर जो शून्य है उसमें त्रिकोण है। उन त्रिकोणों को भेदकर चित्रा नाड़ी प्रवाहित होती है इसी को वेद में त्रिवृत कहा है "त्रिवृतोऽसि" उस चित्रा नाड़ी के सबसे नीचे आधार चक्र है, उसके ऊपर मूलाधार; स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहद, विशुद्धाख्या, माया, आज्ञा, ललना और सहस्रार यह सब दश चक्र हैं। उन्हीं चक्रों को भेदकर ब्रह्मनाड़ी अर्थात् चैतन्य का प्रवाह है। इनमें मूलाधारादि पाँच चक्रों को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष के नाम से शास्त्र में व्यवहार करते हैं। इनमें क्रम से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पंचतन्मात्राएँ हैं तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह पंचीकृत पंचमहाभूत हैं। यह मूलाधारादि पंचचक्र ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के लीला क्षेत्र हैं।

जीव तत्काल में इस पञ्चचक्र के लीलाक्षेत्र के मनोमय कोष में रहता है और उसका स्थूल शरीर से सम्बन्ध होता है, इसी कारण पाँच वस्तुओं का बोध होता है, स्वप्नावस्था में विज्ञानमय कोष में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होने

---

१. हंसौ तौ पुम्प्रकृत्याख्यौ हम्पुमान् प्रकृतिस्तु सः।
अजपा कथिता ताभ्यां जीवो यामुपतिष्ठते ॥
—चक्रकौमुदी १/३१

२. षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
सव्यापासव्यमार्गेण प्रयाणात्प्राण उच्यते ॥

३. अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
सोऽहं हंसः पदे नैव जीवो जपति सर्वदा ॥
—(जीवनलक्ष्य और साधना पृ० ५२-५३)

के कारण उस समय उन्हीं पाँच वस्तुओं का बोध होता है। सुषुप्ति अवस्था में आनन्दमय कोष में कारण-शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण जड़वस्तु का अभाव हो जाता है। इसी से चैतन्य वस्तु का तत्काल बोध होता है किन्तु जीव उसको व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि चैतन्य वस्तु इन्द्रियातीत है। यह तीनों कोष मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्या चक्र में हैं। मनोमय कोष में चित् शक्ति मनोरूपा इच्छा शक्ति स्वरूप से संशय करती है, बिज्ञानमय कोष में वही शक्ति बुद्धिरूपा ज्ञानशक्ति स्वरूप से निश्चय करती है और आनन्दमय कोष में वही शक्ति क्रियाशक्ति स्वरूप से अभिमान करती है। इसी को संशयात्मक मन निश्चयात्मक बुद्धि और अभिमाननामकोऽहङ्कार कहा गया है। चित् शक्ति को मिलाकर यही अन्तःकरण चतुष्टय हो जाता है। शक्ति के क्रियाशील होने के कारण जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था में यह चक्र बराबर दक्षिणावर्त व वामावर्त में घूमा करता है। सुषुप्ति अवस्था में तीनों चक्र ठहर जाते हैं तब बोध नहीं होता।"[1]

नवचक्रनिरूपणोपरान्त सोलह आधारों का वर्णन इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि आधारों द्वारा ही नव चक्रों का विभाग जानना चाहिए। चक्र आन्तरिक लक्ष्य और आधार बाह्य लक्ष्यान्तर्गत आते हैं। सोलह आधारों का क्रम इस प्रकार से निर्दिष्ट है—

(१) पादांगुष्ठाधार—इसके अग्रभाग पर स्थित तेजोमय अग्नि के ध्यान से दृष्टि निर्मल और स्थिर होती है।

(२) मूलाधार—इसमें स्थित (सीवनी) नाड़ी को पैर की एड़ी से दबाने पर अग्नि प्रदीप्त होता है।

(३) गुदाधार—गुदा के विकास और सङ्कोच से अपान वायु स्थिर होता है।

(४) लिङ्गाधार—लिङ्ग के सङ्कोच द्वारा वीर्य का स्तम्भन एवं ऊर्ध्वगामिता। फलस्वरूप वज्रदेह और कामदेव सदृश रूप की प्राप्ति। वज्रोली नाम संज्ञक।

(५) नाड्याधार—मन का लय और योगियों के मल और मूत्र का शीघ्र बिनाशक।

(६) नाभ्याधार—इसमें एकाग्रचितता से प्रणवोच्चारण द्वारा नाद का लय।

---

१. जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० १९-२०

(७) हृदयाधार—इसमें प्राणवायु के निरोध से हृदय कमल का विकास।

(८) कण्ठाधार—कण्ठकूप को चिबुक से दबाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाने पर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में प्राणवायु स्थिर होता है।

(९) घण्टिकाधार—अमरत्व हेतु ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत स्राव का जिह्वा द्वारा पान। यह क्रिया खेचरी मुद्रा की सहायिका है।

(१०) तालवन्ताधार—जिह्वा को चालन और दोहन क्रियाओं से दीर्घ कर पुनः मुख में विपरीत रीति से प्रवेश कराना। इससे योगी काष्ठ सदृश निश्चल हो जाता है।

(११) रसाधार – जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगाने से परमानन्दोत्पादिका कविता की उत्पत्ति।

(१२) ऊर्ध्वरदाधार—रस ग्रन्थि में जिह्वाग्र को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। इससे साधक की व्याधियों का क्षणमात्र में ही नाश हो जाता है।

(१३) नासिकाधार—नासिका के अग्रभाग पर ध्यान लगाने से मन में स्थिरता आती है।

(१४) नासामूलाधार—कपाट संज्ञक इस आधार पर ध्यान लगाने से छः मास में दृष्टि द्वारा ज्योति का दर्शन होता है।

(१५) भ्रूवाधार—ऊर्ध्व नेत्रों द्वारा भ्रूमध्य पर ध्यान लगाने से उज्ज्वल किरणाकार का दर्शन होता है।

(१६) नयनाधार--इसके ध्यान से दिव्य ज्योति का प्रत्यक्ष अवभासित होना।[१]*

इस प्रकार सोलह आधारों का वर्णन कर अन्तर, बाह्य और मध्य भेद से तीन लक्ष्यों (ध्येयों) का वर्णन इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

(१) अन्तर्लक्ष्य—मूलकन्द से उत्पन्न और मूलाधार चक्र से होकर सुमेरु दण्ड तक लग्न सित प्रभावान् ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिये। सुषुम्ना के मध्य कमलतन्तु और उज्ज्वल विद्युत् सदृश मूर्तिस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिए। यह शक्ति सर्वसिद्धिप्रदायिनी है। अथवा ललाट के

---

१. सिं० सि० सं०, २।१३-३०

* तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ३।१७-३२

ऊपर गुह्याट पर ध्यान लगाना चाहिए। अथवा भ्रमर गुफा में रक्तवर्णी भ्रमर का ध्यान या मुख और कर्णों को भली प्रकार बन्दकर सिर में घुं घुं इस प्रकार के नाद पर मन का लय अथवा नेत्रों के मध्य पुतलियों के सदृश नील ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[1]

(२) बहिर्लक्ष्य—बहिर्लक्ष्य के निरूपण के प्रसंग में यह यहाँ स्पष्ट कर देना नितान्त उचित ही होगा कि बहिर्लक्ष्य में दृष्टि को बाहर की ओर शून्य में स्थिर कर पञ्च तत्त्वों की अवधारणा करनी पड़ती है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इन तत्त्वों के प्रसंग में जहाँ यह निर्दिष्ट है कि नासिका से एक अंगुल पर आकाश, बारह अंगुल पर पृथ्वी, सोलह अंगुल पर वायु अथवा आकाश के सन्मुख होकर आकाश का लक्ष्य करना अथवा ऊर्ध्व दृष्टि कर जहाँ तक दृष्टि की गति हो उसके आधे भाग पर ज्योतिपुञ्ज को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अंगुल से प्रारम्भ कर अठारह अङ्गुल पर्यन्त शून्य में ज्योति पुञ्ज का दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार बहिर्लक्ष्य अनेक प्रकार का है।[2] शिवयोगदीपिका में बहिर्लक्ष्य को अत्यन्त स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है। जहाँ वर्णित है कि नासिकाग्र से चार, छः, आठ, दस, और बारह अङ्गुल पर्यन्त क्रमशः नील, धूम्र, रक्त इत्यादि वर्णी पञ्च तत्त्वों को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा सन्मुख आकाश को जो स्थिरदृष्टि से देखता है, ऐसे योगी को ज्योति पुञ्ज के दर्शन होते हैं। दृष्टि के अग्रभाग में अथवा दृष्टि के कोनों में तप्त सुवर्णाभा सदृश भूमि को जो योगी लक्ष्य कर दृष्टि को स्थिर करता है। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अङ्गुल पर्यन्त पर निराकार ज्योतिपुञ्ज का लक्ष्य करता है, वह योगी मुक्त हो जाता है। जो-जो जिसका लक्ष्य हो, योगी को चाहिए कि वहीं-वहीं दृष्टि को स्थिर करे। आकाश का लक्ष्य करने से चित्त उसी की भाँति निर्मल और व्यापक हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त बहिर्लक्ष्य का स्पष्ट निरूपण सिद्धसिद्धान्त पद्धति[4] एवं अद्वयतारकोपनिषद्[5] में भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१. (क) सि० सि० सं०, २।३१-३६
(ख) तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ४।३६-४१
२. सि० सि० सं०, २।३७-४३
३. शिवयोगदीपिका, ४।४२-४७
४. सि० सि० प०, २।२८
५. अद्वयतारकोपनिषद्, ६

भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार वृत्ति को ज्ञानमयी करके संसार को ब्रह्ममय देखे। यही ब्रह्माकारवृत्ति अति उत्तम है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि वास्तव में दृष्टि नहीं है। जिस ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इस त्रिपुटी का लय हो जाता है वही वृत्ति करनी चाहिए। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि सही नहीं है।[1]

मध्य लक्ष्य– वस्तु अथवा पदार्थ आदि की सीमाओं से अतीत निरवयव श्वेत, पीत, रक्त, हरित अथवा श्यामलवर्णी, प्रदीपाकार, धूमशिखातुल्य स्फुरज्ज्योतीरूप, चन्द्रकिरणाकृति अथवा सूर्याकाररूप यह योगियों के ध्यान का विषय है।[2]

इस प्रकार तीन लक्ष्यों के अनन्तर पञ्चाकाश का निरूपण निर्दिष्ट है क्योंकि आत्मतत्त्व वस्तुतः अति व्यापक मान्य है। और उस स्वरूप की अभिव्यक्ति के निमित्त ध्येय रूप पञ्चाकाश का प्रविधान है। ध्येय रूप के ध्यान से चित्त की तादृशावस्था होती है।[3] इस तादृशावस्था से चित्त आकाश सदृश निराकारत्व को प्राप्त कर व्याप्य-व्यापक भाव से स्वयं भी व्यापकत्व को प्राप्त करता है। इस पञ्चाकाश को इस प्रकार से दृष्टिगत करना चाहिए—कि देह घट के बाह्य और आभ्यन्तर उज्ज्वल शून्याकाश, अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश, प्रद्योत रूप महाकाश, आत्मतत्त्व स्वरूप तत्त्वाकाश और कोटि सूर्य सदृश सूर्याकाश का ध्यान करने से जीव आकाश सदृश निर्मल अन्तःकरण युक्त और निराकार* भाव को प्राप्त करता है। इस प्रकार जो

---

१. दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
द्रष्टृ—दर्शन – दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥
(अपरोक्षानुभूतिः— ११६-११७)

२. सि० सि० सं०, २।४४

३. यः पश्यति नरो लक्ष्ये स व्योमसदृशो भवेत्।
—शिवयोगदीपिका, ४।५०

*. निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत् ॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्— ३०)

नवाङ्ग षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह केवल मात्र नाम का ही योगी है।[१]

इसके अनन्तर ग्रन्त में अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। योगाङ्ग के विषय में यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अङ्गों के विषय में यह परम्परा एक मत नहीं है। जहाँ गोरक्ष संहिता[२] योगमार्तण्ड[३] अमृतनादोपनिषद्[४], ध्यानबिन्दूपनिषद्[५] क्षुरिकोपनिषद्[६] और योगचूडामण्युपनिषद्[७] में योग के षड्भेद मान्य हैं, वहीं घेरण्ड संहिता[८] में सात। किन्तु अष्टाङ्ग योग ही अधिक प्रचलित है। इसको मानने वाले ग्रन्थों के अन्तर्गत पातञ्जल योगदर्शन,[९] दत्तात्रेय योगशास्त्र,[१०] सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[११] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्[१२] जाबालदर्शनोपनिषद्,[१३] वराहोपनिषद्[१४], शाण्डिल्योपनिषद्[१५], योगतत्त्वोपनिषद्[१६], और शिवयोगदीपिका[१७] आते हैं।

कहीं-कहीं अङ्गों की संख्या पन्द्रह मान्य है यथा अपरोक्षानुभूति[१८] और

---

१. सि० सि० सं० २।४५।४८
२. गोरक्षसंहिता १।६
३. योगमार्तण्ड २
४. अमृतनादोपनिषद् ६
५. ध्यानबिन्दूपनिषद् ४१
६. क्षुरिकोपनिषद्-सम्पूर्ण
७. योगचूडामण्युपनिषद् २
८. घेरण्ड संहिता १।६-११
९. पातञ्जल योग दर्शन २।२९
१०. दत्तात्रेययोगशास्त्र—श्लोकार्धसंख्या ५२-५६
११. सि० सि० प० २।३२
१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।२
१३. जाबालदर्शनोपनिषद् ४-५
१४. वराहोपनिषद् ५।११-१२
१५. शाडिल्योपनिषद् १।२
१६. योग तत्त्वोपनिषद् २४-२५
१७. शिवयोगदीपिका २।४-८
१८. अपरोक्षानुभूतिः १०२-१४४

तेजोबिन्दूपनिषद् ।[1] इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध पन्द्रह अङ्गों के श्लोकों का निरूपण करने वाली कारिकायें प्रायः समान हैं। इन दोनों ग्रन्थों के पौर्वापर्य का निर्णय किए बिना किसी एक की उत्तमर्णता अथवा अधमर्णता का निश्चयन सम्भव नहीं। शिवमहापुराण में जहाँ अष्टाङ्ग[2] योग को माना है वहीं पर आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को संक्षेप में योग के षडङ्ग[3] माने हैं। इस विषय पर अधिक न जाते हुए सिद्धसिद्धान्त-संग्रह में निर्दिष्ट अष्टाङ्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) योग[4] का ही वर्णन यहाँ प्रस्तुत है—

(१) **यम**—दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करना ही यम कहलाता है।[5] सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति के अनुसार अपने-अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटाकर शान्ति प्राप्ति ही यम है।[6] पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।[7] भोजवृत्तिटीकाकार इनकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि उनमें प्राणों का शरीर से वियोग करने के लिए जो कार्य किया जाता है, वह हिंसा कहलाती है। वह हिंसा सर्वरूपों वाली अनर्थ का कारण है। उसका अभाव अहिंसा है। हिंसा का सर्वकाल में त्यागने योग्य होने से प्रथम उसके अभाव रूप अहिंसा का निर्देश किया है। सत्य यह है कि वाणी और मन दोनों की यथार्थता, अर्थात् जैसा अर्थ है उसी के अनुसार ही कहना और मन में धारण करना। दूसरे के धन का हरण करना चोरी है। उसका अभाव चोरी का त्याग कहलाता है। उपस्थेन्द्रिय के रोकने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। भोग साधनों का स्वीकार न करना अपरिग्रह कहलाता है।[8] श्रीविज्ञानभिक्षु योगारुरुक्षु गृहस्थादियों के लिए अष्टाङ्गयोग

---

१. तेजोबिन्दूपनिषद्, १।१५-५१
२. शिवमहापुराण, ७।२।३७-१४-१५
३. वही, ७।२।३७-१६
४. सि० सि० सं०, २।४६
५. वही, २।५०
६. यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः-शनैः साधयेत्। —सि० सि० प०, २।३२
७. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —पा० यो० द०, २।३०
८. वही, २।३०

का विधान करते हुए यम के पांच अङ्गों का वर्णन करते हैं।[1] शाण्डिल्योपनिषद् में यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दस अङ्ग निर्दिष्ट हैं।[2] शिवयोगदीपिका[3] और दर्शनोपनिषद्[4] में भी यम के दस अङ्ग कहे गये हैं।

यम हेतु भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'सब ब्रह्म है' इस निश्चय से इन्द्रियों का नियन्त्रण यम कहलाता है और इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।[5]

इस परम्परा से किञ्चित् हटकर योगतत्त्वोपनिषद्,[6] दत्तात्रेय योगशास्त्र[7] एवं हठयोगप्रदीपिका[8] में मिताहार की यम में एवं अहिंसा की नियम में परिगणना की गई है। सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारों ने किसी अन्य हठयोग परम्परा का अवलम्बन किया हो, क्योंकि हठयोग की दो परम्पराओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

(२) **नियम**—मानसिक वृत्तियों का नियमन नियम कहलाता है। जिनमें सन्तोषादि आते हैं।[10] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन-जिन विषयों की ओर मन जाए उन सब

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहो।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥
—योगसारसंग्रह, पृ० १६

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।४

३. शिवयोगदीपिका, २।६

४. दर्शनोपनिषद्, १।६-२५

५. सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
—अपरोक्षानुभूति, १०४

६. योगतत्त्वोपनिषद्, २८-२६

७. दत्तात्रेययोगशास्त्र —श्लोकार्ध संख्या, ६४-६५

८. हठयोगप्रदीपिका, १।३८

६. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

१०. सि० सि० सं०, २।५१

विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास करना, मित्र और शत्रु में भी रागद्वेष रहित, सन्तोषयुक्त और निज गुरु के चरणों में दृढ़भक्ति होना ही नियम का लक्षण है।[१]

शिवयोगदीपिका में गुरु की अनन्य-भक्ति, परमपद में अनुरक्ति, निःसङ्गतादि को नियम में परिलक्षित किया गया है।[२] पा० यो० दर्शनानुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह पाँच नियम हैं।[३] ईश्वरप्रणिधान को स्पष्ट करते हुए व्यास जी लिखते हैं कि शय्या अथवा आसन पर बैठा हुआ व मार्ग में चलता हुआ अपने स्वरूप में स्थित वितर्करूप जाल को नष्ट किए हुए संसार बीज के नाश का विचार करता हुआ नित्य परमात्मा में युक्त हुआ अमृत भोग का भागी होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।[४]

भोजवृत्तिटीकानुसार शौच दो प्रकार का है—बाह्य और आन्तरिक। मिट्टी, जलादि से काया का धोना बाह्य और मैत्र्यादि के द्वारा चित्त मलों का धोना आन्तरिक शौच है। तृप्ति को सन्तोष कहते हैं। शास्त्रों में कहा हुआ तप है, जो कृच्छ्र चान्द्रायणादि हैं। मन्त्रों के पूर्व में ओंकार लगाकर जप करना स्वाध्याय कहलाता है। और क्रियाओं को फल की अपेक्षा से रहित उस परम गुरु में अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। इनको क्रिया-योग भी कहते हैं।[५] विज्ञानभिक्षु भी इनका निरूपण करते हैं।[६]

---

१. नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति एकान्तवासो निःसंगतौदासीन्यं यथा-प्राप्ति-सन्तुष्टिर्वैरस्य गुरुचरणावरूढत्वमिति नियमलक्षणम् ॥
—सि० सि० प०, २।३३

२. भक्तिर्गुरौ परमतत्त्वपदेऽनुरक्तिर्निःसङ्गता स्वयमुपागतलाभतुष्टिः ।
एकान्तवासपरता च मनोनिवृत्तिर्वैराग्यभाव इति ये नियमास्त एव ॥
(शिवयोगदीपिका, ४।५)

३. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
—पा० यो० दर्शन, २।३२

४. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥
—व्यासभाष्य, वही

५. भोजवृत्तिटीका, २।३२, २।१

६. तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥—योगसारसंग्रह, पृ० २०

दर्शनोपनिषद्[1], शाण्डिल्योपनिषद्[2] और शिवयोगदीपिका[3] में नियम के दस अंग स्वीकृत हैं। अपरोक्षानुभूति में वर्णित है कि सजातीय-प्रत्ययों का प्रवाह और विजातीय का तिरस्कार यही परमानन्द रूप नियम है। मुमुक्षु-गण इसका नियमपूर्वक अभ्यास करते हैं।[4]

(३) **आसन**—स्वस्वरूप में सदा स्थित होना आसन कहलाता है। यह आसन, सुख, स्वस्थ, अम्बुजादि के भेद से अनेक प्रकार का माना गया है।[5] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार सदा स्वस्वरूप चेतनमात्र आत्मा में स्थित होना ही आसन का द्योतक है। बहुधा प्रकार के आसनों में स्वस्तिक, पद्म और सिद्धासन ये तीनों योग-साधना हेतु अत्यन्त उपकारक हैं।[6] पा० यो० दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता और सुख हो वही आसन है।[7] व्यास भाष्य के मत में उस विषय में जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासनादि जो जिसको इष्ट हो वही करे परन्तु जिसमें शरीर कम्पादि न हो और सुख हो इसका विचार करना चाहिए।[8] भोजवृत्तिटीकानुसार जिसके द्वारा बैठा जाए वह आसन कहलाता है। वह पद्मासन, दण्डासन, स्वस्तिकासनादि हैं। जब आसन स्थिर अर्थात् निष्कम्प, सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है, तब योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[9] आत्मपूजोपनिषद् के अनुसार निश्चल ज्ञान ही आसन है।[10]

---

१. तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥
—दर्शनोपनिषद्, २।१

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।११

३. संतोष आस्तिक्यगुणो मतिश्च तपो व्रतं शंकरपूजनं च ।
ह्रीर्योगशास्त्रश्रवणं जपश्च प्रदानमेते नियमा दश स्मृताः ॥
—शिवयोगदीपिका, २।१०

४. सजातीय-प्रवाहश्च विजातीय-तिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥
—अपरोक्षानुभूतिः, १०५

५. सि० सि० सं०, २।५२

६. सि० सि० प०, २।३४

७. स्थिरसुखमासनम्—पा० यो० दर्शन, २।४६

८. व्यासभाष्य—वही

९. भोजनवृत्तिटीका—वही

१०. निश्चलज्ञानमासनम्—आत्मपूजोपनिषद्

शाण्डिल्योपनिषद् में आसन के आठ प्रकार वर्णित हैं।[1] जबकि दर्शनोपनिषद् में इसके नौ प्रकार स्वीकृत हैं।[2] यहाँ आसनों की विकासावस्था पर अधिक न जाते हुए केवल कुछ प्रमुख ग्रन्थों का नामोल्लेख करना ही उचित होगा, क्योंकि '**आसनानि समस्तानि यावत् जीवजन्तवः।**' विज्ञानभिक्षु तीन (स्वस्तिक, पद्म और अर्धासन) आसनों की ही योग साधना में अत्यधिक उपयोगी बताते हैं।[3] शिवयोगदीपिका में आसनों के दस भेद मानकर उनमें तीन को ही उत्तम माना है।[4]

भगवान् शङ्कराचार्य के मत में जिस आसन में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिए, दूसरा आसन नहीं है क्योंकि वे सब सुखनाशकर्ता होने से। जो समस्त भूतों का आदि कारण है, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान है और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं, उसे ही सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[5]

(४) **प्राणायाम**—प्राणों की स्थिरता का हेतु ही प्राणायाम कहलाता है।[6] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार प्राण वायु की स्थिरता का कारण प्राणायाम कहलाता है और वह रेचक, पूरक, कुम्भक और संघटकरण (वायुओं का योग) भेद से चार प्रकार का है।[7] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार आसन के होते हुए श्वासप्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम कहलाता है तथा इसके चार भेदों को स्वीकार किया गया है।[8] व्यास जी के मत में आसन के होते हुए बाहर वायु को अन्दर खींचना 'श्वास' कहलाता है। उदर में वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है, उन दोनों की

---

१. शाण्डिल्योपनिषद्, १।३।१

२. दर्शनोपनिषद्, ३।१

३. आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम्॥
—योगसारसंग्रह, पृ० २१

४ शिवयोगदीपिका, १।१२-१३

५. अपरोक्षानुभूतिः, ११२-११३

६. सि० सि० सं०, २।५३

७. सि० सि० प०, २।३५

८. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—पा० यो० दर्शन, २।४९-५१

गति को रोकना अर्थात् उन दोनों का अभाव 'प्राणायाम' कहलाता है।[1] दर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के रेचक, पूरक और कुम्भक तीन भेद माने हैं। इन तीनों को वर्णत्रयात्मक मानकर इनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया गया है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में प्राणायाम का निरूपण (समस्त नाड़ियों सहित) प्राप्त होता है।[3] शिवयोगदीपिका में प्राकृत; वैकृत और केवल कुम्भक भेद से त्रिविध प्राणायाम मान्य है।[4] इस परम्परा से हटकर अन्य ग्रन्थों में भी प्राणायाम का निरूपण प्राप्त होता है यथा याज्ञवल्क्य-संहिता।[5] पशुपत दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ गणकारिका की टीका में प्राणायाम का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त दृष्टिगत होता है।[6]

---

१. व्यासभाष्य, २।४६

२. दर्शनोपनिषद्—सम्पूर्ण षष्ठ प्रकरण

३. शाण्डिल्योपनिषद्, १।७ खण्ड

४. शिवयोगदीपिका, २।२०-२५

५. प्राणायामपरः सर्वे प्राणायामपरायणः ।
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ।।
प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादिव ।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः ।।
—याज्ञवल्क्यसंहिता

६. "उपस्पर्शनेनाक्षपितकलुषक्षापणार्थं प्राणायामः । कोष्ठयस्य वायोर्गति-निरोधः प्राणायामः । तत्रोपस्पृश्य कारणतीर्थकरगुरूननुप्रणम्य प्राङ्-मुख उदङ्मुखो वा पद्मकस्वस्तिकादीनामन्यतमं यथासुखमासनं बद्ध्वा कृतमुन्नतं च कृत्वा शनैः संयतान्तः करणेन रेचकादीन् कुर्यात् । कलुषाभावेऽपि चित्तस्यातिनिर्मलत्वापादनार्थमभ्यासार्थं नित्यं कुर्यात् ।"
उक्तं हि—
"प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।।
प्रणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः ।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते ।।
जलबिन्दुकुशाग्रेण मासे मासे च यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामैकतत्समम् ।।"

आदि शङ्कराचार्यानुसार चित्तादि सर्ववृत्तियों में ब्रह्मरूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध प्राणायाम कहलाता है। नानारूपात्मक प्रपञ्च का निषेध करना रेचक प्राणायाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी जो वृत्ति है, वह पूरक-प्राणायाम कहलातो है। फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। प्रबुद्ध पुरुषों के लिए तो यही प्राणायाम है, अज्ञानियों के लिए घ्राणपीडन प्राणायाम है।[1]

श्री लाहिड़ी महाराज वेदान्त व्याख्या में लिखते हैं कि "हृदयस्थ वायु ही प्राण है, वह वायु ही बल है और वही मनुष्य का जीवन है। इस प्राणवायु के ही स्थानभेद से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नाम हो जाते हैं। इस प्राण-अपान के द्वारा ही होम करना पड़ता है। होम करने में अग्नि की आवश्यकता होती है। क्रिया द्वारा प्राण के ऊर्ध्वमस्तक में गमन करने से ही ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित होती है।

प्राण—अपानादि समस्त प्राण क्रियाओं को उसमें होम करना पड़ता है, तभी यज्ञविशेष क्रिया की परावस्था प्रकाशित होती है और यह क्रिया की परावस्था ही ब्रह्म है। इसमें जिसका मन लीन हो जाता है उसे ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" की अवस्था प्राप्त होती है। ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर प्राण की गति होती है। प्राण ही कूटस्थ है और उसी के होने से सब कुछ होता है। यह कूटस्थ प्राण ही मुख्य प्राण है, यह समस्त इन्द्रियों से अतीत है, इस मुख्य प्राण का कोई रूप नहीं है। क्रिया की परावस्था में स्थिति प्राप्त होते ही मुख्य प्राण अथवा आत्मा का परिचय प्राप्त होता है। आत्मा के विभिन्न

प्राणायामविशुद्धात्मा यस्मात् पश्यति तत्परम्।
तस्मात्किञ्चित्परं नास्ति प्राणायामादिति श्रुतिः॥
... ...
"अह्ना राज्या च याञ्जन्तून्निहन्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत्॥"
(आचार्य-भासर्वज्ञ-विरचित, गणकारिका, पृ० १२-१३

१. चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्॥
—अपरोक्षानुभूति, ११८-१२०

अभिप्राय इन्द्रिय-द्वारों पर ही व्यक्त होते हैं। प्राण का भेद ही इन्द्रियों की विभिन्नता है। ऐसा होने पर ही पञ्च प्राण, मन और इन्द्रियाँ फूट उठती है, किन्तु ये समस्त मुख्य प्राण (क्रिया की परावस्था) से भिन्न होते हैं। चञ्चल प्राण स्थिर होने पर ही आत्मा अथवा ब्रह्म का ज्ञान होता है। क्रिया करने से ही प्राण स्थिर होते हैं।

क्रिया करते-करते जो क्रिया की परावस्था में पहुँच जाते हैं वे प्रथम ही तृतीय नेत्र कूटस्थ को पाकर शिवरूप हो जाते हैं, और फिर उस कूटस्थ के स्थिर होने पर ही विष्णु हो जाते हैं।

चेष्टाशील साधक प्रयत्न करने पर ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। जो साधन का क्लेश सहन कर प्रयत्नपूर्वक क्रिया करते चलते हैं उनकी कुलकुण्डलिनी मूलाधार में जागृत हो जाती है, उन्हीं का हृदयस्थ काम नष्ट हो जाता है और वे ही समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। ये समस्त योगी लोग अमृत-पान करते हैं।"[1]

"कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के मूल में प्राण और अपान शक्तियों का साम्य स्थापन होता है। प्राण और अपान के द्वारा यावत् विरुद्ध शक्तियों का संग्रह समझना चाहिए। विरुद्ध शक्तियों में साम्य होना ही समान वायु की क्रिया का फल है। इस समय निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है। योगी का मन इस जाग्रत कुण्डलिनी-शक्तिरूपा अग्नि के साथ मिलकर एक हो जाता है। इस कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करने के लिए प्राणायाम रूप योग कौशल को जानना चाहिये। प्राणायाम के द्वारा ही श्वास चैतन्य युक्त होता है, इससे सुषुम्ना का मुंह खुल जाता है। इससे मन का त्राण होता है अर्थात् चाञ्चल्य रहित होकर स्थिरता प्राप्त करने के कारण यहाँ मन्त्र के मन्त्र नाम की (मननात् त्रायते) सार्थकता दृष्ट होती है। तन्त्र में लिखा है।क—

शिव से लेकर कृमि पर्यन्त प्राणियों के प्राणवर्तन रूप श्वास-प्रश्वास को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र का यथार्थ मानी है, श्वास और उसको चैतन्य करने का उपाय श्वास-क्रिया या प्राणायाम"।[२*]

---

१. जीवन-लक्ष्य और साधना पृ० ८८ से

२. शिवादिकृमिपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्तनम्।
निःश्वास-श्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये॥

* जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० ११-१२

(५) प्रत्याहार—चित्तवृत्तितरङ्गों का विषयों से निवर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है तथा यह चित्त विकारों को ग्रसने वाला है।[1] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व रूपी इन्द्रियों की स्व-स्व विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से प्रसिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहलाता है।[2] पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार इन्द्रियों का अपने विषयों को त्याग कर चित्तस्वरूपानुकूल होना ही प्रत्याहार कहलाता है।[3] व्यास जी लिखते हैं कि अपने विषय के संयोग से रहित चित्त स्वरूप के अनुकूल ही होना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। चित्त के रोकने पर चित्त के समान इन्द्रियों का भी रुक जाना। इन्द्रियजय के समान अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते अर्थात् आवश्यकता नहीं होती। जैसे मधु-निर्माणकर्त्री रानी मक्खी के उड़ते हुए उसके पीछे सब मक्खियाँ उड़ती हैं और प्रवेश करती हुई के पीछे प्रवेश करती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है।[4] गीता में प्रत्याहार हेतु कूर्म को साक्ष्य ठहराया है।[5] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार साधक जब कुम्भक लगाकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।[6] शाण्डिल्योपनिषद् में इसकी चर्चा करते हुए वर्णित है कि विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेना प्रत्याहार है। जो-जो देखता है वह सब आत्मा ही है, ऐसा विचार प्रत्याहार है। नित्यकर्म फल का त्याग, सर्व विषयों से विमुख, अठारह मर्म स्थलों में क्रम से धारण, पैर का अंगूठा, गुल्फ, जानु, जङ्घा, गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु, नासिका, नेत्र,

१. सि० सि० सं०, २।५४

२. सि० सि० प०, २।३६

३. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥
—पा० यो० दर्शन, २।५४

४. व्यास भाष्य, २।५४

५. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता, २।५८

६. इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरति स्फुटम् ।
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ॥
—दत्तात्रेय योगशास्त्र श्लोकार्ध संख्या, १८६-१८७

भ्रूमध्य, ललाट और मूर्धा इन स्थानों में आरोहण और अवरोहण क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए।[१] शिवयोगदीपिका में प्रत्याहार को अन्तरङ्गाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हुए प्रत्याहार का पालन करने वाले को संयतात्मा के रूप में स्वीकारा है।[२] अपरोक्षानुभूति के अनुसार विषयों में आत्मभाव करके अन्तःकरण को चेतन में डुबो देने को ही प्रत्याहार जानना चाहिए। मुमुक्षुओं के द्वारा इसी का अभ्यास श्रेयस्कर है।[3]

(६) **धारणा**—वृत्तियों का निर्विकार में धारण ही धारणा है।[४] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र एक ही आत्मा को व्यापक मानते हुये मानसिक भावना करनी चाहिये और जैसा भी भूत-भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उस सबको निज आत्मरूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्च समुद्रतरङ्गवत् ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उस परब्रह्म से अभिन्न आत्मा को वायु रहित दीप के समान निश्चल चित् प्रकाश रूप से ध्यान करें। यही धारणा है।[५] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का देश विशेष में बाँधना अर्थात् रोकना धारणा कहलाती है।[६] व्यास भाष्य मत में नाभिचक्र—हृदयकमलमूर्धज्योति में नासिका के अग्रभाग में अथवा जिह्वा के अग्रभागादि शरीर देशों में अथवा किसी बाह्य विषय में चित्त की वृत्तिमात्र का रोकना धारणा कहलाती है।[७] दत्तात्रेय

---

१. शाण्डिल्योपनिषद् प्रथम अध्याय, अष्टम खण्ड।

२ संकोचमाचरति कूर्म इहाङ्गकाना-
मङ्गे यथा भुवि तथा निखिलेन्द्रियाणि।
प्रत्याहरस्व नियतात्मनि संयतात्मा-
मन्यामहे परमतत्त्वमिदं तदेव॥ —शिवयोगदीपिका, ३।३

३. विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः॥
— अपरोक्षानुभूति, १२१

४. सि० सि० सं०, २।५५

५. सि० सि० प०, २।३७

६. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। पा० यो० दर्शन, ३।१

७. व्यास भाष्य वही.

योगशास्त्र[1] शिवयोगदीपिका[2] और जाबालदर्शनोपनिषद्[3] में धारणा के पञ्च* (पञ्चमहाभूतों के) प्रकार निर्दिष्ट हैं।

अपरोक्षानुभूति के अनुसार जिस-जिस पदार्थ में मन जाए, उसी-उसी में उसके अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा है।[4]

(७) ध्यान—द्वन्द्वता रहित परमात्मा और आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा समझकर परमात्मस्वरूपानुरूप अन्तर्वृत्ति का होना ही ध्यान कहलाता है।[5] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, जिसका नाम रूप से निर्देश न किया जाये ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है, उसी की जो सर्वत्र व्यापक चिद् रूप सत्ता है वह इन्हीं सब का व्यापकरूपात्मा है। मुझ और उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध को छोड़कर कुछ भी भेद नहीं है। अतः जो-जो वस्तु जैसे-जैसे प्रतीत हो उसको सर्वत्र आत्मरूप जानकर ऐसी भावना करनी चाहिए कि यह मेरी ही आत्मा है और ब्रह्म से लेकर सभी स्थावर जङ्गम प्राणियों में समदर्शी हो जाना ही ध्यान है।[6] पातञ्जल के अनुसार उस प्रदेश में अर्थात् जिस विषय में

---

१. दत्तात्रेय योगशास्त्र—श्लोकार्ध संख्या, २२०-२४२

२. धारिणी वारुणी चैव आग्नेया मारुती तथा।
नभोमयीति कथ्यन्ते सूरिभिः पञ्च धारणा॥
—शिवयोगदीपिका, ३।३६

३. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रतः।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥
—जा० द० उ०, ८।१-२

* पञ्च धारणा की विस्तृत व्याख्या हेतु द्रष्टव्य—दर्शनोपनिषद् एवं जाबालदर्शनोपनिषद् का अष्टम खण्ड।

४. यत्र तत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
—अपरोक्षानुभूति, १२२

५. सि० सि० सं०, २।५६

६. सि० सि० प०, २।३८

धारणा की गई है उसी ध्येय विषयक ज्ञान वृत्तियों का समान प्रवाह ध्यान है। समान प्रवाह से अभिप्राय है कि दूसरा ज्ञान मध्य में न हो।[1] व्यास मतानुसार 'उस देश में जिसमें धारणा की गई ध्येय-स्वरूप आलम्बन वाले ज्ञान की एकतानता अर्थात् समान प्रवाह अन्य ज्ञानों से रहित ध्यान कहलाता है। सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो उसी विषयक दूसरी और उसी विषयक तीसरी इस प्रकार ध्येय से अन्य का ज्ञान मध्य में न हो सो सदृश प्रवाह का अभिप्राय है।'[2] भोजवृत्ति टीका के मत में जिस प्रदेश में चित्त एकाग्र किया गया हो, उसमें प्रत्यय अर्थात् ज्ञान की जो एकतानता विपरीत परिणाम के त्याग द्वारा जो वह धारणा में आलम्बन किया है, उस आलम्बनता से ही सर्व ध्यान काल में ज्ञान उत्पत्ति ध्यान है।[3] ध्यानबिन्दूपनिषद् में ध्यान का अत्यन्त विस्तर निरूपण दृष्टिगोचर होता है। वहाँ वर्णित है कि पर्वत सदृश अनेक योजनपर्यन्त यदि पाप भी हो तो वे ध्यान योग द्वारा नष्टता को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[4] अपरोक्षानुभूति के अनुसार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सद्वृत्ति से जो निरालम्ब स्थिति है वही 'ध्यान' शब्द से प्रसिद्ध है और यह वृत्ति परमानन्द प्रदायिका है।[5]

(८) **समाधि**—सर्व तत्त्वों की समावस्था ही समाधि की द्योतक है। इस अवस्था में अन्य बाह्य व्यापारादियों का अवरोध होने पर अनायास ही परमात्मा से एकीकरण हो जाता है।[6] पा० यो० दर्शन के अनुसार वह ध्यान ही अर्थमात्र भासित होना चाहिए जिसमें अर्थात् ध्येय का स्वरूप ही भासित

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—पा० यो० दर्शन, ३।२

२. व्यास भाष्य, ३।२

३. भोजवृत्तिटीका —वही.

४. यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।
—ध्यानबिन्दूपनिषद्, १

५. ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥
—अपरोक्षानुभूति, १२३

६. सि० सि० सं०, २।५७

हो, जिसमें योगी अपने स्वरूप से शून्य सा हुआ अर्थात् अपना स्मरण योगी को न रहे, इस समान गति को समाधि कहते हैं।[1] व्यासभाष्यानुसार ध्याता-ध्येय-ध्यान इन तीनों के भेदपूर्वक ध्यान होता है। उस भेद से रहित समाधि होती है। यह ध्यान और समाधि में अन्तर है। इस समाधि के अङ्ग ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योगादि में भेद है। जब इस ध्यान में चिन्तारूप होने के कारण सम्पूर्णता से ध्येय का स्वरूप भासित नहीं होता। उस ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योग में जानने योग्य जो ब्रह्मस्वरूप उसके साक्षात्कार होने पर समाधि के अविषय अर्थात् ब्रह्मस्वरूप से भिन्न अन्य सर्व पदार्थ भी विषय रूप से भासित होते हैं अर्थात् जाने जाते हैं।[2]

भोजवृत्ति के अनुसार 'ऊपर निर्दिष्ट जो ध्यान है वह जिसमें अर्थमात्र का भान हो, अर्थ के रूपाकार का अपने ज्ञान में प्रवेश होने से अपना ज्ञान स्वरूप दब जाने से अर्थ का स्वरूप उद्भूत होने के कारण स्वरूप शून्य की समानता को प्राप्त होता है। वह समाधि है, ऐसा कहा जाता है यथार्थता से धारण किया जाता अर्थात् एकाग्र किया जाता, विक्षेपों को हटाकर मन जिसमें वह समाधि कही जाती है।'[3] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार जीव और परमात्मा की समता अवस्था समाधि है।[4] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी रहितता से परमानन्दस्वरूपशुद्धचैतन्यावस्था ही समाधि है।[5] संक्षेप में यही कहना उचित है कि परमात्मा और आत्मा का जल और सैन्धव की भाँति एकाकार होना ही समाधि है।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ के द्वितीय उपदेश में नवचक्रों, सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टाङ्ग योग का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त और संक्षेप से किया गया है।

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः —पा० यो० दर्शन, ३।३
२. व्यासभाष्य, वही.
३. भोजवृत्तिटीका, वही.
४. दत्तात्रेय-योगशास्त्र श्लोकार्ध—२५०
५. अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यात्मिका भवति।
—शाण्डिल्योपनिषद्, १।११

तृतीयोपदेशः

पिण्ड विचारानन्तर पिण्ड-संवित्ति (सम्पूर्ण भूत-भौतिक, जड़-चेतन के ज्ञान) की आवश्यकता का अनुभव इसलिए आवश्यक है क्योंकि पिण्ड-संवित्ति के आश्रयीभूत जीव को शीघ्र ही तत्त्वों का बोध हो जाता है। जो ब्रह्माण्ड में है वही सब इस देह में विद्यमान है, ऐसा हठयोग के आचार्यों का ही नहीं अपितु तान्त्रिक मत का भी कथन है।[1] शिव-संहिता में वर्णित है कि यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है।[2] देहविज्ञानियों के अनुसार यह शरीर सर्वमय है। केवलमात्र यही नहीं अपितु सब कुछ से परे जो कुछ है वह भी इस देह में विद्यमान है। केवलमात्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभिन्नता ही नहीं अपितु ब्रह्माण्डातीत तत्त्व का प्रकाश भी इसी देह में प्राप्त होता है।[3] पिण्डसंवित्ति के आश्रय से सभी तत्त्वों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है तथा ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वही सब इस देह पिण्ड में है ऐसा निश्चय ही पिण्डसंवित्ति कहलाता है।[4]

---

१. (क) शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षाकारं कलेवरम् ॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम्।
ब्रह्माण्डे वर्तते तीर्थं सार्द्धकोटित्रयात्मकम्
द्विसप्तति सहस्राणि प्रकाशं वीरवन्दिते ॥—तोडलतन्त्रम्, २।१-३

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २६

२. ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
—शिव-संहिता, २।५

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १३५

४. सि० सि० सं०, ३।१-२

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में उक्त है कि जो साधक इस देह पिण्ड में समस्त भूत-भौतिक, जड़-चेतन जगत् को जानता है उसका नाम पिण्ड संवित्ति होता है। अर्थात् वह योगी व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों ही प्रकार के शरीर पिण्डों का तत्त्ववेत्ता होता है। व्यष्टि सृष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव हैं और समष्टि में विराट् हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीर रूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टियों में प्रादुर्भाव होता है। भेद केवल यह है कि समष्टि शरीर व्यापक, अधिक शक्तिशाली और चिरस्थायी है। और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्य-सङ्कल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है। व्यष्टि पिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है और उसका अभिमानी जीव भी कर्मपाश में बँधा हुआ बार-बार पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःख बन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से योगाचार्य व्यष्टि और समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्ड-गत कार्य को भी व्यष्टि शरीर में ही समझाते हैं। जिससे कि उक्तपिण्ड के यथार्थ ज्ञानपूर्वक योग ध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्री आदिनाथ स्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।[1]

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से यह देह दो तरह की है। व्यष्टिदेह को पिण्ड या पिण्डाण्ड (Microcosm) कहते हैं, समष्टिदेह का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड(Macrocosm) है। समष्टि और महासमष्टि के भेद से ब्रह्माण्ड की भी दो तरह की स्थिति है। एक पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड के रूप में और दूसरी है—सब ब्रह्माण्डों की समष्टि के रूप में। इस प्रसङ्ग में हम प्रकृत्यण्ड (जो ब्रह्माण्डों की समष्टि से भी विशाल है।) मायाण्ड (जो प्रकृत्यण्ड की समष्टि से भी विशाल है)। एवं शाक्ताण्ड (जो मायाण्ड से भी अनन्तगुण विशाल है) आदि की आलोचना नहीं करेंगे। समग्र ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब का सब पृथक्-पृथक् रूप से इस छोटी-सी नरदेह में भी है, इसलिए यदि ठीक तरह से इस मानव-देह का परिचय प्राप्त हो जाये, तो ब्रह्माण्ड की बात तो क्या, समग्र विश्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। उपनिषदों में कही गई 'दहरविद्या' पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि बाहरी आकाश में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब मानव

---

१. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, ३।१

के अन्तराकाशरूपी हृदय-पुण्डरीक में विद्यमान है । अतएव, बाहर की ओर दृष्टि न डालकर अन्तर्मुख दृष्टि के द्वारा हृदय की ओर लक्ष्य निविष्ट करना ही ऋषियों का मुख्य उपदेश था ।"[1]

संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह छोटी सी देह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब है । सृष्टिकर्त्तारूप अत्यन्त निपुण चित्रकार ने माया के कांच द्वारा पञ्चभूत के बने इस अत्यन्त छोटे पत्र पर अनन्त कोटि योजन विस्तार के ब्रह्माण्ड को चित्रित कर दिखाया है ।[2] सर्वप्रथम सप्त पातालों की स्थिति निरूपित करते हुए वर्णित है कि कूर्म पादतल में स्थित है जो व्यष्टि शरीर का आधार है ।[3] सप्ततलों का क्रम इस प्रकार है—

अंगुष्ठतल में पाताल, अंगुष्ठ के अग्रभाग में तलातल, पादपृष्ठ में महातल,

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ०, १२४-१२५

२. यस्मिन्दर्पणबिम्बजृम्भितपुरीसंदर्भतुल्यं जगत् ।
भातं यत्परसंविदो यत् इदं रूप्यादिवल्लीयते ।।
यस्याज्ञानविजृम्भिता परभिदा वारीन्दु भेदादिवत् ।
तं भूमानमुपास्महे हृदि सदा वामार्धजानि शिवम् ।।
—षट्चक्र निरूपण, पृ० ३-४ से सम्पादक श्री हंसस्वरूप

३ भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धम् पुराणेषु। तस्यायं गूढाभिसन्धिः । शक्ति सहितस्य शिवस्यैव सृष्टयादावस्थाविशेषः कूर्म इवेति, सादृश्यं चात्र यथा कूर्मादङ्गानि निःसरन्ति तत्रैव च संकुचन्ति तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः निःसरन्ति तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः वेदोप्याह (स दाधार पृथिव्यां, द्यामुतेमाम्) गीतायां 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' अतः सुष्ठूक्तम् कूर्मः पादतले वसति । ननुपादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह कूर्म इति चेत् शृणु रहस्यम् यदा ब्रह्माण्डपिण्डयोरभेदो ज्ञायते, य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधार कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम्, इति हृदय सङ्कोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यम् तत्रांगुष्ठान्त्यदेशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादि सप्तलोक भावना विधेयेति निष्कर्षः । मूले यत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्क्रमेणैव ज्ञेया नतु व्युत्क्रमेणान्यत् स्पष्टम् । अस्य सप्तपातालस्याधिपति देवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोध रूपः समष्टौ कालाग्नि रुद्रः प्रलयकारकः ।। सि० सि० प० पर श्री द्रव्येश झा कृत् संस्कृत टीका ३।२

गुल्फ में रसातल, जंघा में सुतल, जानुदेश में वितल और मूल में अतल[1] का वास है। इन सप्ततलों के अधिपति रुद्र हैं जो इस व्यष्टि देह में क्रोध रूपी भाव है वही कालाग्नि रुद्र है।[2]

तोडलतन्त्रम् में इन्हीं सप्ततलों का क्रम यहाँ वर्णित क्रम से विपरीत बताया गया है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ में इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थानों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार से है—

	ब्रह्माण्ड	स्थान	देवता	स्वभाव
१.	भूः लोक	—मूलाधारे	=देवता इन्द्र, जो इन तीनों का नियन्ता है तथा समस्त इन्द्रियों का नियामक है।	
२.	भुवः लोक	—लिङ्गाग्रे		
३.	स्वः लोक	—लिङ्गमूले		
४.	महः लोक	—मेरुदण्डाग्रे	=देवता ब्रह्मा, जो शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है।	
५.	जनः लोक	—मेरुदण्डकुहरे		
६.	तपः लोक	--मेरुदण्डतले		
७.	सत्यलोक	—मेरुदण्डमूले		
८.	विष्णुलोक	—नाभि—	विष्णु—	रक्षण-पोषण करना।
९.	रुद्र लोक	— हृदय—	रुद्र—	उग्र।

---

१. अतल न० अस्य भूखण्डस्य तलं पृषो० इदमोऽत्वम्। सप्तपातालमध्ये प्रथमखण्डे भूमेरधोभागे। तल्लोकाश्च सप्त, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पातालसंज्ञका अधोधस्तिष्ठन्ति तेषां निवेश-स्थानञ्च "स्वादूदकान्तर्वड्यानलोऽसौ पाताललोकाः पृथिवीपुटानीति" सि० शि० गो० उक्तम्। विशेषस्तत्तच्छब्दे वक्ष्यते। तलशून्ये त्रि नास्ति तलः प्रतिष्ठा यस्य। अप्रतिष्ठेत्रि० [गभोरे]।

—वाचस्पत्यम्, भाग १

२. सि० सि० सं०, ३।३-५

३. अतलं वितलञ्चैव सुतलञ्च तलातलम्।
महातलञ्च पातालं रसातलमतः परम्॥
रसातलाच्च सत्यान्तं महाधीरा प्रतिष्ठिता।
मेरुमध्यस्थिता नाडी महाधीरा च मुक्तिदा॥

—तोडलतन्त्रम्, २।८-९

ब्रह्माण्ड | स्थान | देवता | स्वभाव

१०. ईश्वर लोक—वक्षःस्थल—ईश्वर देव—तृप्ति स्वरूप ।
११. सदाशिव लोक—कण्ठ—सदाशिव—सौम्य स्वभावी ।
१२. श्रीकण्ठलोक—कण्ठमध्य—श्रीकण्ठ—सनातनत्व ।
१३. भैरव लोक—लम्बिका मूल—भैरव—उद्यम ।
१४. शैवलोक—तालुद्वार—शिव—विश्ववन्द्य ।
१५. सिद्धलोक—तालोरभ्यन्तर—महासिद्ध—प्रबोधात्मा ।
१६. अनादिलोक—ललाट—अनादिदेव—पराहन्ता स्वरूप ।
१७. कुललोक—शृङ्गाट प्रदेश—शक्तियुक्त कुलेश्वर—आनन्दस्वरूप ।
१८. अकुलेश लोक—शङ्ख नाड़ी के ऊपर मध्य नलिनी स्थान में—अकुलेश्वर-अभिमानावस्थारहित ।*
१९. परब्रह्मलोक—ब्रह्मरन्ध्र—परब्रह्मदेवता—परिपूर्ण स्वरूपवान् ।
२०. परापर लोक—सहस्रदलकमल—परेश्वर—अस्तित्वरूप ।
२१. शक्तिलोक—त्रिकुट—पराशक्ति—सर्वकर्तृत्व की सामर्थ्ययुक्ता ।[1]

उपर्युक्त लोक ईश्वर के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्यावहारिक अस्तित्वों के ही विभिन्न स्तरों में मान्य हैं। ये सभी इन्द्रियानुभवों से परे हैं तथा इनमें से कुछ तो मानसिक व बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र से भी बहुत ऊपर हैं। किन्तु जब व्यावहारिक चेतना तत्त्वज्ञानालोकित हो जाती है तब शरीर के अन्तर्गत उन सभी स्तरों का अनुभव प्राप्त हो जाता है।[2]

चार-वर्ण— ब्राह्मण—सदाचार तत्त्व में ।
क्षत्रिय—शौर्य में ।
वैश्य—उद्यम (व्यवसाय) में ।
शूद्र—सेवा भाव में ।[3]

---

* इस लोक का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं है। अतएव इसका निरूपण सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार किया गया है।
मूल—शंखमध्ये नलिनीस्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । —सि० सि० प०, ३।५

१. सि० सि० सं०, ३।६-२०
२. गोरख-दर्शन, पृ० १९५-९६
३. (क) सि० सि० सं०, ३।२१
(ख) ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥ ऋग्वेद

तथा चौसठ कलाओं में चौसठ तरह के व्यवसायी जन स्थित हैं।[1]*

सप्त-द्वीप

	द्वीप	—	स्थान
१.	जम्बू	—	मज्जा
२.	शाल्मली	—	अस्थि
३.	प्लक्ष	—	नाड़ी
४	कुश	—	माँस
५.	क्रोञ्च	—	त्वचा
६.	गोमय	—	रोम
७.	श्वेत	—	नख[2]

सप्त-समुद्र

	समुद्र	—	स्थान
१.	क्षार	—	मूत्र
२.	इक्षु	—	शुक्र
३.	दधि	—	कफ
४.	घृत	—	मेद
५.	मधु	—	वसा
६.	वारि	—	लार
७.	अमृत	—	रक्त[3]

नव-खण्ड

ये नव खण्ड शरीर के नवद्वारों में स्थित हैं। यद्यपि इनका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता तो भी इस क्षति पूर्ति हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित नवखण्डों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. सि० सि० सं०, ३।२७

* यह खण्ड (३।२७)वें श्लोक का प्रथम खण्ड है जो (३।२१)वें श्लोक के अनन्तर ही आना चाहिए था, जैसा कि यहाँ प्रस्तुत किया गया है सम्भवतः यह खण्ड किसी कारण विशेष से अभिभूत होकर यहाँ से च्युत होकर अप्रासङ्गिक जगह उपस्थित हो गया होगा।

२. वही, ३।२२

३. सि० सि० सं०, ३।२३

नवखण्ड

खण्ड		स्थान
१. भारत खण्ड	—	मूल
२. कर्फर खण्ड	—	लिङ्ग
३. काश्मीर खण्ड	—	मुख
४. श्री खण्ड	—	दक्षिण नासिका
५. शङ्ख खण्ड	—	वाम नासिका
६. एकपाद खण्ड	—	दक्षिण कर्ण
७. गान्धार खण्ड	—	वाम कर्ण
८. कैवर्त्तक खण्ड	—	दक्षिण नेत्र
९. महामेरु खण्ड	—	वाम नेत्र[1]

अष्टकुलपर्वत

पर्वत	—	स्थान
१. सुमेरु	—	मेरुदण्ड
२. कैलाश	—	मस्तक
३. हिमाद्रि	—	पीठ
४. मलयाचल	—	वाम स्कन्ध
५. मन्दराचल	—	दक्षिण स्कन्ध
६. विन्ध्याचल	—	दक्षिण कर्ण
७. मैनाक	—	वाम कर्ण
८. श्रीपर्वत	—	ललाट में स्थित है। तथा अन्य उपपर्वत हस्ताङ्गुलियों में विद्यमान हैं।[2]

निर्वाण-तन्त्र में भी कहा गया है कि मध्य में मेरु पर्वत तथा अन्य सात कुलपर्वत शरीर में स्थित हैं।[3]

---

१. सि० सि० प०, ३।९

२. सि० सि० सं, ३।२५-२७

३. मेरुः पर्वतस्तन्मध्ये तथा सप्त-कुलाचलाः।
मूलादि-मस्तकान्तं वै सुमेरुर्नाम पर्वतः॥
—निर्वाण-तन्त्र, प्रथम पटल

नव-नदी

१. गङ्गा २. सरयू ३. यमुना ४. चन्द्रभागा ५. सरस्वती ६. वितस्ता ७. शतरुद्रा ८. नर्मदा ९. इरावती	ये मुख्य नदियाँ देहस्थ प्रधान नाड़ियों में तथा अन्य उपनदियाँ शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियों में प्रवाहित होती हैं। जिनका साक्षात्कार केवल तत्त्वज्ञाता ही कर सकता है।[1]

इनके अतिरिक्त (अश्विनी, भरणी, कृत्तका, पुनर्वसु इत्यादि सत्ताईस) नक्षत्र, (मेष, वृष, धनु इत्यादि बारह) राशियाँ, (सूर्य, चन्द्र, बुध इत्यादि नव) ग्रह, तारागण और तिथियाँ ये सभी शरीर के कोष्ठों में वास करते हैं। अनेक तारागण नेत्रान्त ज्योतिपुञ्ज के और तेंतीस करोड़ देवता शरीर के रोम कूपों के आश्रयीभूत होकर रहते हैं। अनेक मुनि कक्षरोम में एवं सर्वपीठ (मुख्य देवोपासना स्थान) और उपपीठों का स्थान श्मश्रु है। भूत-प्रेत, पिशाच राक्षस, दैत्य और दानवों का वास अस्थि-सन्धियों में है। समस्त तूपनागादि उदरस्थ रोमों में, गन्धर्व, किन्नरगण, अप्सराएँ और यक्ष आदि विविध प्रकार के अवयवों में और परा देवतादि का वास वाच्य रश्मिवितताओं में है। अनेक प्रकार की आकाश में विचरण करने वाली, उग्र मातृ-शक्तियाँ* शरीरस्थ वायु वेग में, मेघ आँसुओं में, तीर्थ-मर्मस्थानों में, बुद्धि के प्रकाश में सिद्ध, नेत्रों में सूर्य और चन्द्र, लता, गुल्म और तृणादि जङ्घाओं के रोमों में और अनेक प्रकार के कीट, पतङ्गादि पुरीष (विष्ठा) में वास करते हैं। शरीरस्थ सुख-दुःख स्वर्ग-नरक हैं। निर्विकल्पता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अखण्ड आत्मबोध ही आत्म जागरण है। इस

---

१. सि० सि० सं०, ३।२८-२९

* ये गिनती में आठ हैं—ब्राह्मी माहेश्वरी चंडी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुंडा चर्चिकेत्यष्टमातरः॥

कुछ के मत में इनकी संख्या सात हैं—
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुंडा सप्त मातरः॥ (संस्कृत-हिन्दी कोश)
वामन शिवराम आप्टे, पृ० ७९१

प्रकार अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूप महेश्वर घट-घट में चित्प्रकाशस्वरूप से सर्वत्र विद्यमान हैं।[1]

"महायोगी गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि यह विश्वरूप प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में वस्तुतः विद्यमान रहता है तथा एक पूर्णतया तत्त्वज्ञानालोकित योगी इसका दर्शन न केवल दिव्यपुरुष श्रीकृष्ण के शरीर में ही कर सकता है, वरन् अपने शरीर तथा दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी कर सकता है। परमात्मा द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्ड-शरीर प्रत्येक व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त है और पूर्ण तथा असंख्य अंशों में भेद अनावश्यक है। जब तक व्यष्टि-चेतना भौतिक-ऐन्द्रिक अनुभव स्तरों पर विचरण करती है तथा इनके द्वारा निर्मित आवरणों को दूर नहीं कर सकती, ये भेद प्रमुख प्रतीत होते हैं, पूर्ण अंशों की ओट में वह विशिष्ट वास्तविक विशेषों में अन्तर्निहित एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में वह छिपा रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि के समक्ष पूर्ण प्रत्येक अंश में स्पष्ट दिखाई देता है, असीम प्रत्येक ससीम में अभिव्यक्त प्रतीत होता है।"[2]

इस प्रकार समष्टि और व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड और पिण्ड का ज्ञान ही पिण्ड-संवित्ति कहलाता है।

---

१. सि० सि० सं०, ३।३०-४०
२. गोरख-दर्शन, पृ० १९७

चतुर्थोपदेश:

पिण्ड-संवित्ति के अनन्तर इस प्रकरण में शक्ति रूप पिण्डाधार (पिण्ड के आधार के रूप में, यथा शरीर के रक्षक इत्यादि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। यह शक्ति मूल में परम से अभिन्न एवं उसी के रूप वाली है तथा यही शक्ति समस्त देहों का आधार है। इसी चित् एवं कार्य-कारण और कर्तृत्व की अवस्था को स्फुटित करने वाली शक्ति के सन्दर्भ में प्रथम अध्याय में निरूपित पञ्चत्व (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) की गणना को प्रकाशित कर शक्ति और शिव रूप कुलाकुल के सामरस्य को प्रकाशित करने वाली अपरम्परा शक्ति का निरूपण इस प्रसङ्ग में किया गया है। यह शक्ति समस्त जड़-चेतन पदार्थों का उसी प्रकार एकमात्र आधार है यथा नाना प्रकार के तन्तु एकमात्र पट के आश्रयीभूत होकर विराजते हैं।[1]

गोरख-दर्शन में उक्त है कि "शिव को शक्ति का पारमार्थिक रूप कहा जा सकता है और शक्ति को शिव का प्रापंचिक स्तर। शिव से भिन्न और स्वतन्त्र, शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है और यदि शक्ति की अवहेलना की जाए तो शिव की आत्माभिव्यक्ति, उनका नानात्मक आत्म-प्रकाशन सम्भव नहीं और आत्मचेतना से सम्पन्न उनका कोई व्यक्तित्व भी सम्भव नहीं।"[2] यह शक्ति देह-पिण्ड के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी इसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान यह शक्ति देह पिण्ड में कुण्डलिनी रूप से स्थित है। केवल इस शक्ति का जागरण ही साधक का लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि।[3]

---

१. सि० सि० सं०, ४।१-३
२. गोरख-दर्शन, पृ० ६६
३. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १२४

मायातन्त्र[1] और षडाम्नायतन्त्र[2] जैसे ग्रन्थों में भी इस शक्ति का वर्णन अत्यन्त युक्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति की व्याख्या में उक्त है कि 'जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरस रूप मोक्ष है, जो कि लक्ष्य है तथा साधन जिसका योग है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्यप्रकाश रूप और सकल चराचर जगत् की आधारभूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म कारण और जीव, इनकी जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है उस अवस्था रूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्त्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है, इसलिए वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है। वही शक्ति भूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है। इसी से वह सबका उपादानकारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाश स्वरूप है। अतः निज अनुभव से ही जानने योग्य और लोक तथा

---

१. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तस्याश्चाराधनं महत्।
या चिच्छक्तिः सैव माया सा दुर्गा परिचक्ष्यते॥
या दुर्गा सा महाकाली तारिणी बगलामुखी।
अन्नपूर्णा च सा माया गृहिणां कल्पशाखिनी॥
भोगदा मोक्षदा देवी तस्मात् पूर्णेति चक्ष्यते।
माया गुणवतां देवी निर्गुणानां चिदात्मिका॥
यदि सा बहुभिः पुण्यैः प्रसीदति जनान् प्रति।
तदैव कृतकृत्यास्ते संसारात् ते बहिष्कृता॥
दुरन्ता चावशा माया मुनीनामपि मोहिनी।
श्रीकृष्णं मोहयामास राधा च गोकुले स्थिता॥

—मायातन्त्रम्, २।३-७

२. चिच्छक्तिः परमाराध्या मायाशक्त्यपि पूजिता।
गुणशक्तिः सृष्टिरूपा पूजापूज्या द्विधा मता॥
पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिस्त्रिविधा बहुधा मता।
चिद्घनो ह्यच्युतानन्दः सकला परमेश्वरी॥

—षडाम्नायतन्त्रम्, ३।५, ८

शास्त्र सम्बन्धी बुद्धि वृत्ति को देखने वाली जो चिद्रूपशक्ति है वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है। वही पराशक्ति जब प्रलयकाल में स्वभाव से अपने शुद्ध रूप में विकसित होती है, तब शिव रूप भी हो जाती है। अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिसमें शयन करता है, उसको शिव कहते हैं। वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता।'[1] गोरक्ष-वचन-संग्रह में जल-बुद्बुदवद् शिव-शक्ति के अभिन्नत्व को प्रतिपादित किया गया है।[2]

जब यह शिव की अभिव्यक्ति समस्त स्थावर एवं जङ्गम रूप प्रापंचिक स्तरों सहित अपने आपको लीन करती है तो उस दशा को निरुत्थान दशा कहते हैं जिसकी संज्ञा शिव है।[3] अर्थात् निरुत्थान दशा में शक्ति का स्वरूप शिव हो जाता है और व्युत्थान दशा में शिव शक्ति के रूप में आभासित होते हैं। परन्तु परम सत्ता के इन दोनों रूपों में भेद का सर्वथा अभाव है। डा० गोपीनाथ कविराज जी तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन में लिखते हैं कि ज्ञान और क्रिया शक्ति में मूलतः कोई भेद नहीं और जो प्रतीत होता है वह केवल औपाधिक है, वस्तुतः शक्ति एक ही है। जब शक्ति समस्त व्यापारों का उपसंहार कर स्वरूप-मात्र में उपस्थित होती है, तो शिव को शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियाशक्ति उस समय मुकुलिका सदृश शिव में अवस्थान करती है। यही शिव की पूर्ववर्णित लयावस्था है।[4]

सृष्टि के प्रसार और सङ्कोच की आदि और अन्त की अवस्था ही साम्यावस्था अथवा निराभास अथवा शिवावस्था है। साम्यभङ्ग अर्थात् शक्ति के स्फुरण में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है। जगत् का आभासित होना ही शक्ति और निराभास होना शिव है जो एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति साधन और शिवत्वलाभ उसका फल है। विमर्श ही शिव की शक्ति है। सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय की एकावस्था ही नाथस्वरूप है।[5]

---

१. सि० सि० प० पर सारदीपिका टीका ४।१

२. अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति।
जलबुद्बुदवद् न्यायात् एकाकारः परः शिवः॥
—गोरक्ष-वचन-संग्रह, ८

३. सि० सि० सं०, ४।५

४. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० २७

५. ना० स० द० सा० प्र० के शब्द गोरक्षनाथ नाथ-सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में, पृ० ११७

यह शक्ति कुल और अकुल दोनों (शिव के लौकिक एवं पारलौकिक स्वरूपों) का सामञ्जस्य प्रदर्शित करने वाली है। इसी कारण इसे कुलाकुल स्वरूपिणी कहते हैं। इस प्रकार अपने स्वभाव से चिद्रूप यह शक्ति मोक्षावस्था में आत्मस्वरूप में ही उदबुद्ध होती है। अतः कुलाकुल की सामरस्य स्थिति ही शिव-शक्ति की अभेदावस्था का द्योतन करती है। जिसको प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि विश्व के आधार की एकमात्र द्योतक वह शक्ति परा, सत्ता, अहन्ता, स्फुरता और कला रूप पाँच प्रकारों से अभिव्यक्त होती है, जिसे कुलशक्ति कहते हैं।

परा—स्वयं चेतनप्रकाशरूपा होने से समस्त जड़प्रकाश को प्रकाशित करने वाली।

सत्ता—परम की सर्वव्यापकता को अङ्गीकार करने वाली।

अहन्ता—आदि और अन्त रहित तथा बुद्धि ज्ञान से अज्ञेय प्रकाशस्वरूप मैं ही हूँ, इस प्रकार परमात्म-आत्म की अभेदावस्था के प्रकाश की प्रकाशिका।

स्फुरता—परमात्मा और आत्मा की अभेदावस्था की ज्ञान दशा को अभिव्यक्त कराने वाली।

कला—शुद्धबुद्धस्वभाववान् आत्मा के स्वरूप के ज्ञान की अवबोधिका।[1]

अकुल—वर्ण और गोत्रादि से रहित प्रलयावस्था में एकमात्र अकुल (परम तत्त्व) ही शेष रहता है। शिव को अकुल इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसका कोई कुल गोत्र नहीं है तथा वह आदि और अन्त रहित है। शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, निर्धर्म और अनङ्ग होने से अकुल कहलाता है और शक्ति सृष्टि का हेतु और समस्त प्रापञ्चिक स्तरों की प्रवर्तिका होने से कुल कहलाती है।[2] तात्पर्य यह है कि "अकुल (अद्वैत आत्मा) की आन्तरिक प्रवृत्ति स्वयं को कुल (लौकिक द्वैतताओं) के रूप में अभिव्यक्त करके विलास करने की है और चूंकि अद्वैत आत्मा एवं समस्त द्वैततायें सत्यतः एक ही हैं, अतः अद्वैत आत्मा से एकाकार होने की समस्त द्वैतताओं की आभ्यंतरिक प्रवृत्ति होती है। द्वैत और अद्वैत का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए गोरखनाथ बुद्‌बुदों और जल का उदाहरण देते हैं।"[3]

१. सि० सि० सं०, ४।६-९
२. वही, ४।१०-१३
३. गोरख-दर्शन पृ०, ७४

दर्शनमाला में भी इस समस्त जगत् प्रपञ्च का आधार शक्ति को माना है।[1]

नाथ-सम्प्रदाय की कुलाकुल रूप शक्ति समरस को स्फुट करने हेतु पाँच प्रकार की कुलावस्था एवं अखण्डादि रूप अकुलावस्था से तत्पर होती है। अपरम्परा, निजा आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध यह शक्ति महाप्रलय में सकलाधार रूप से अवशिष्ट रहती है। इसके अनन्तर अपरम्परा पदार्थ के निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहना नितान्त उचित ही होगा कि समस्त भूत-भौतिक विश्व-प्रपञ्च को जो परम में सम्पादित करती हुई एक कर देती है उसी शक्ति का नाम अपरम्परा है तथा इसी को आज्ञावती भी कहते हैं। महाप्रलय में शिव के साथ अभिन्नत्वरूप से विद्यमान रहने के कारण अकुल तथा जब यह शक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिलकर परा, अपरा, सूक्ष्मादि भेद से कुल रूप व्यक्तावस्था को धारण करती है तब यह कुल कहलाती है। और पुनः प्रलयावस्था में अकुलावस्था-युक्त हो जाती है। जिस प्रकार जल का स्वकार्य की अपेक्षा से फेन, तरङ्ग, बुबबुला आदि नाम हो जाता है और जल भी कहलाता है किन्तु तत्त्व की दृष्टि से वह केवल जल ही होता है उसी प्रकार द्वैत एवं अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान समरस रूप द्वैताद्वैतविलक्षण ही सत् है।[2] इस अभेद रूप समरस से ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है और वही स्वशक्ति से नित्य सम्बद्ध होकर शक्तिमान् कहलाता है। वही सभी स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतनादि में व्यवहार की दृष्टि से भासित होने पर भी वास्तव में वह स्वस्वरूप प्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है। वही सबका आधार है किन्तु उसका कोई आश्रय नहीं है। दृष्टि भेद से शिव-शक्ति का आधार भले ही भासित हो, किन्तु यथार्थ में आधाराधेयभाव भी नहीं है क्योंकि शिव-शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। समस्त जड़-चेतन में वह जल के बुद्बुदों के सदृश भासित होता है और अन्त में निज व्यापक चिदखण्डस्वरूप से एकमात्र

---

१. प्रागुत्पत्तेरिदं स्वस्मिन् विलीनमथ वै स्वतः।
बीजादङ्कुरवत् स्वस्य शक्तिरेवासृजत्स्वयम्॥

—दर्शनमाला, १।३

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥

—गोरक्ष-वचन-संग्रह, १

ही अवशेष रहता है।[१]

सर्वशक्तिमान् होने से ही शिव समस्त प्रापञ्चिक स्तरों के परम कारण हैं। शक्ति रहित होने पर शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और शक्ति युक्त होने पर वह सर्वसमर्थ हैं। अर्थात् निज शक्ति से वे सभी के सृजनकर्ता एवं प्रकाशक हो जाते हैं।[२] "शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं। इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह शव हो जाता है।[3] इसीलिए शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्म साधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के तीन लक्ष्य हैं—अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते। कौलज्ञाननिर्णय में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है।[४] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता। उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।"[५]

यह तो नितान्त स्पष्ट ही है कि शक्ति रहित शिव असमर्थ हैं और स्व-शक्तियुक्त होने पर ही वह अभासी भासवान् हो जाता है। अर्थात् नित्य शक्तिमान् वह परमेश्वर सर्वविश्व का एकमात्र आधारभूत अधिष्ठान होने से सर्वव्यापी कहलाता हुआ जगत् रूप हो जाता है। सिद्धों के मत में इस जगत्

---

१. (क) सि० सि० प०, ४।१०-१२
(ख) तुलनीय सि० सि०, सं० ४।१२-१५

२. सि० सि० सं०, ४।१६

३. शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
—(देवीभागवत)

४. अकुलं तु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा—कौलज्ञाननिर्णय १६।४१

५. न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया न च्छायारहितो द्रुमः॥
—वही, १७।८-९ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६८ से

से उस परम शिव की भेद सत्ता नहीं है। शिव की यही निजा शक्ति कुण्डलिनी शक्ति रूप होकर देह में विराजमान हो जाती है।[1]

तन्त्र और सन्त में इसकी विस्तृत विवेचना करते हुए वर्णित है कि "विश्व के आधार की भाँति व्यक्ति पिण्ड में भी इसकी संस्थिति स्वीकार की गई है। वैष्णवों में यही महाशक्ति विष्णु की महालक्ष्मी, बौद्धों में प्रज्ञापारमिता अथवा प्रज्ञा तत्त्व है। इस प्रसुप्त शक्ति का प्रबोध ही समस्त आगमिक साधनाओं का लक्ष्य है। इसके जागरण हेतु शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों के यहाँ परमेश्वर अनुग्रह माना गया है। बौद्धों के यहाँ भी गुरु कृपा से पृथक् जन, 'स्रोतापन्न' हो जाता है। परमेश्वर शक्तिपात के शक्ति उद्‌बोधन में यदि कुछ कमी रह जाए तो उसकी पूर्ति गुरु-दीक्षा और साधक द्वारा किए जाने वाले उपायों द्वारा की जा सकती है। शक्तिपात, दीक्षा एवं विभिन्न प्रयोगात्मक उपायों द्वारा जागरित कुण्डलिनी अद्वैत, अद्वैताद्वैत एवं द्वैत के स्तरों को पार करती हुई सङ्कोचों या कञ्चुकों को विलीन करती हुई समस्त प्रकार को उपसंहृत करती हुई अन्ततः सामरस्य अद्वयावस्था को प्राप्त करती है। बौद्धों का बिन्दु का उद्‌बोधन और कुण्डलिनी जागरण एक ही बात है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक यत्नपूर्वक बिन्दु को क्षुब्ध एवं ऊर्ध्व संचारी करता है। इसके ऊर्ध्वगामी होने पर बिन्दु में से पार्थिव, जलीय, आग्नेय एवं वायवीय अंश समाप्त हो जाता है और अन्त में वह गगनोपम बोधिचित्त हो जाता है। बौद्धागमों में ब्राह्मण तन्त्रों की भाँति चक्रों की प्रक्रिया को आत्मसात् किया गया है। इनके यहाँ निर्माण, धर्म, सम्भोग और उष्णीषचक्र स्वीकृत है तथा बिन्दु का क्षोभ निर्माणचक्र में ही होता है। इस क्षुब्ध बिन्दु का ऊर्ध्वसंचार मध्यवर्तिनी अवधूतिका नाड़ी द्वारा होता है। ऊर्ध्वसञ्चार से अभिप्राय है समस्त विरोधी प्रवाहों का एकरस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। कुण्डलिनी के ऊर्ध्व संचार और अधः संचार वृत्त पूरा होने की भाँति ही बौद्धों में बिन्दु का उष्णीष कमल तक सञ्चार होकर पुनः जब निर्माण चक्र में प्रतिष्ठा होती है तब वह स्थिर निर्वात दीपशिखा की भाँति निष्कम्प और स्थिर हो जाता है। यहाँ चित्त शोधन वृत्त पूरा हो जाता है और शून्यताकरुणाभिन्न बोधिचित्त की महासुखात्मा निज दशा की स्थिर स्थिति हो जाती है।"[2]

---

१. सि० सि० सं०, ४।१७-१८

२. तन्त्र और सन्त, पृ० ५३-५४ से उद्धृत।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इस शक्ति की चर्चा के प्रसंग में निर्दिष्ट है कि परापर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि की उत्पादिका यह कुण्डलिनी सर्वत्र व्यापक है किन्तु देह में इसकी विशेष अभिव्यक्ति है। यह चेतनात्मिका शक्ति प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अर्थात् यह शक्ति चेतन* स्वभाव वाली है किन्तु जब तक यह शरीर में सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है, तब तक प्राणियों के लिए शोकमोहादि बन्धन का हेतु है और अज्ञानियों के लिए जन्ममरण रूप विपरीत फल की प्रदायिका बनी रहती है और जब यह मूलाधारस्था अधोमुखी प्रयत्नपूर्वक उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, तब यह साधक के सभी अशुभ कर्मों और मन के सभी विकारों को नष्ट करती हुई सहज समाधि की प्रकाशिका कहलाती है।[१] हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है कि जब यह प्रसुप्त कुण्डलिनी जग जाती है, तब सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[२] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान आचरण करता रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[3] इस विमर्श विद्या को ऊर्ध्व शक्ति के नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि यह शक्ति समग्र भूत-भौतिक प्रपञ्चों की रचयिता एवं सब पदार्थों की अधिष्ठातृ रूप में सर्वत्र विद्यमान होने के कारण देह में व्याप्त आत्मावबोधक की कारण है।

देह पिण्ड में स्थित जीव की यह मार्मिक शक्ति वस्तुतः एक ही है किन्तु स्थान भेद के कारण यह तीन अवस्थाओं का अवलम्बन करती है। प्रथमावस्था में यह मूलाधार चक्रस्थ अज्ञान स्वरूप में विराजित होती है और यही इसकी अधोगति कहलाती है। जब इसका मूलबन्ध इत्यादि मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से जागरण किया जाता है तब यह शक्ति अपानवायु के घर्षण से उद्वेलित होकर मणिपूरकचक्र में पहुँच जाती है, जहाँ इसका स्वरूप ज्ञानवान् हो जाता है। यही इसकी मध्यमावस्था है। एतदनन्तर जब

---

* परम शिव धर्मी तथा उसकी शक्ति धर्म होने के कारण चेतन की शक्ति चेतन ही होगी। अन्यथा जगत् की उपादान शक्ति के जड़ होने पर समस्त जगत् प्रपञ्च जड़ ही होगा।

१. सि० सि० सं०, ४।१६-२१

२. हठयोगप्रदीपिका, ३।२

३. घेरण्ड-संहिता, ३।५०

यह प्राण-अपान के संयोग से सहस्रदल तक पहुँच जाती है, तब सर्वेन्द्रियों के व्यापारों के अवरुद्ध होने पर जीव को परमपद को प्राप्त कराती हुई बोध जनक स्वरूप होकर ऊर्ध्वा कहलाती है । यही इसकी तीन (अधः, मध्य और ऊर्ध्व) संज्ञाएँ हैं। अमरौघशासन में भी इसी प्रकार का निरूपण किया गया है।[1]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा गया है कि मध्य के विकसित होने से चिदानन्द की प्राप्ति होती है।[2] जिसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'मध्य में भगवती संवित् ही है, क्योंकि वह सभी के रूप में विद्यमान रहती है तथा उसकी भित्ति में संलग्न हुए बिना अपने (वास्तविक) स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । उसी (संवित्) ने माया की स्थिति में उस रूप में होते हुए भी (अपने) स्वरूप को छिपाकर "पहिले जो संवित् थी वही अब प्राण के रूप में परिणत हो गयी" इस विचार के द्वारा प्राणशक्ति-भूमि को स्वीकार करके अपने अवरोहण काल में देहादि भूमियों में विश्राम करती हुई सहस्रों नाड़ियों के मार्ग का अनुसरण किया है। और वहाँ भी वह संवित् पलाशपर्णमध्यशाखा-न्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र पर्यन्त प्रधानतया प्राणशक्ति के रूप में ब्रह्म के आश्रय मध्य नाड़ी में स्थित है। उसी के द्वारा सभी वृत्तियों का उदय भी होता है और वहीं वे विश्रान्त भी हो जाती हैं। इस रूप में होते हुए भी यह पशु (प्रमाता) से (अपने) स्वरूप को छिपा लेती है और जब उक्त योग-साधना-काल में सभी के अन्तरतम में मध्यरूप में विद्यमान भगवती संवित् विकसित होती है अथवा मध्यरूपा ब्रह्मनाड़ी विकसित होती है तो उसी के विकास से उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है और उसी के पश्चात् उपर्युक्त जीवन्मुक्ति'।[3]

मूलाधार की चर्चा के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना उचित ही होगा कि समष्टि-व्यष्टि में अभिन्नत्व स्थापित कर यह समस्त जड़ और चेतन पदार्थों का जनक है मूलाधार होने से। इस पीठ के ध्यान और कुण्डलिनी के उत्थान से जीव ज्ञानी कहलाता है। यद्यपि मूलाधारादि पूर्वोक्त नव चक्रों में नव शक्ति की विद्यमानता है किन्तु वस्तुतः वह उसी प्रकार से एक ही है यथा

---

१. ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥

—अमरौघशासनम्, पृ० १

२. मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः । प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १७

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सम्पादक श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० १२६-१२६

महाकाश के उपाधि भेद से घटाकाश, और मठाकाशादि। मूलाधारस्थ इसी शक्ति के प्रसार और सङ्कोच से जगत् की सृष्टि और विनाश होता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए, क्योंकि जगत् के समस्त कार्यों की उत्पादिका होने के कारण ही यह मूल शक्ति है तथा उसी शक्ति के मूलाधार में प्रबुद्ध होने पर योगियों को सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[1] तोडलतन्त्र में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है।[2] आगमों में निर्दिष्ट शक्ति जड़ नहीं, अपितु यह स्वतन्त्र चिति है जो विश्व की सिद्धि में कारण है।[3] यह चिति जब अपना विस्तार करती है तब विश्व का उन्मीलन और अवस्थान तथा जब यह अपने विस्तार को रोक लेती है तब विश्व भी निमीलित हो जाता है।[4] परम से अभिन्न इस शक्ति का प्रकृति एवं माया के सदृश परिणाम नहीं होता अपितु सृष्टि के इस मूल कारण का प्रसार एवं सङ्कोच होता है। आगमों की माया अशुद्धाध्वा की प्रथम अवस्था है जो बिना किसी प्रकाश के अनेकता का प्रकाशन करती है।[5]

श्रीसर्वमङ्गल में शक्ति और शक्तिमान् केवल दो पदार्थ स्वीकृत हैं।[6] न्याय और वैशेषिक शक्ति के जड़त्व को स्वीकार नहीं करते, मीमांसक और

---

१. सि० सि० सं०, ४।२०-२५

२. नाडीद्वयेन देवेशि समीरं पूरयेद् यदि।
तत्स्तु प्राणमन्त्रेण कुण्डलीचक्रमं चरेत् ॥
सहस्रारे महापद्मे नित्ये चाव्ययपङ्कजे।
आसयुक्ता कुण्डलिनी प्रविशेन्नित्यमन्दिरम् ॥
सर्वाः पातालगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि।
एतस्मिन् समये देवि वर्णमालां विचिन्तयेत् ॥
—तोडलतन्त्रम्, २।१३-१५

३. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १

४. वही, टीका

५. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥
—तन्त्रालोक, ६

६. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'
—(शिवसूत्र-विमर्शिनी, पृ० ८६ से)

अद्वैत वेदान्तियों ने भी शक्ति को जड़ और अनिर्वचनीया या मिथ्या माना है। यह मायारूपा शक्ति अचिन्त्य तथा दुर्घट अर्थ का सम्पादन करने वाली है, जो प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते', इत्यादि स्थलों से ज्ञात होता है कि एक के बहु होने में मूल में इस शक्ति की क्रिया मानी जाती थी। वास्तव में यह परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा है। उपनिषदों में वर्णित है कि "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"। इन स्थलों से यह ज्ञात होता है कि शक्ति पुरुषाभिन्न है। कहीं-कहीं शक्ति के चिद्रूप के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। सांख्य और पातञ्जल दर्शनों में 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' का उद्घोष हुआ है। अद्वैत का अनुकरण करने वाले संक्षेपशरीरकार सर्वज्ञात्ममुनि 'अमला चितिशक्ति' की बात कहते हैं। इन स्थलों में शक्ति ब्रह्माभिन्न है। अर्थात् प्रथम स्थल में वर्णित शक्ति पुरुष एवं द्वितीय स्थल में वर्णित शक्ति ब्रह्म के लिए प्रयुक्त नामान्तर है।[1] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित शक्ति शिव से अभिन्न है तथा इसी के प्रसार और संकोच से जगत् की सृष्टि और लय होता है।[2]

मध्य कुण्डलिनी के निरूपण में उक्त है कि यह शक्ति चिद्रूप होने से जीव का ही रूप है और जब तक जीव उस अपने में प्रतिष्ठित मध्यम शक्ति का उत्थान नहीं करता, तब तक वृथा ही जन्म-मरण के पाश में बँधा रहता है।[3] यह शक्ति भोगादि में आसक्त जीव को अपने चेतन रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सर्वदा समर्थ है। भेद विषय से यह मध्यमा शक्ति स्थूला और सूक्ष्मा दो प्रकार की वर्णित है। शब्दात्मक स्थूल जगत् प्रपञ्च एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने पर यह स्थूल कहलाती है। इस स्थूल कारण शक्ति के कार्य रूप में प्रकट होने पर यह शक्ति इन्द्रियगोचर होती है, जिससे इसे साकार मध्य शक्ति कहते हैं। महामहोपाध्याय डा०

---

१. (क) तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, प्रस्तावना पृ० ३, ४
(ख) तन्त्र और सन्त, पृ० ३६-४०

२. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं०, ४।२४

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपाऽथ योगिनाम्।
बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
—योगशिखोपनिषद्, ६।५५

गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकार से अनुभव करते हैं, वस्तुतः वह शक्ति के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारणजगत् लिङ्गात्मक सूक्ष्म जगत् और इन्द्रियगोचर जगत्, शक्ति के ही विभिन्न विकासमात्र हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में वर्तमान है, वही शक्ति का परम रूप है। विशुद्ध चैतन्य के नाम से वर्णन करने पर भी, इसका ठीक-२ निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मन के अगोचर अनिर्देश्य अवर्णनीय परमार्थसत्ता को ही शास्त्र में 'परमपद' कहा गया है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचार के विषयीभूत होने पर भी विचार-दृष्टि से देखने पर आलोचना-प्रसङ्ग से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श—ये दोनों अंश अविनाभूत रूप में वर्त्तमान हैं। प्रकाश के बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्श को त्याग कर प्रकाश की स्थिति भी सम्भव नहीं है यह शिवशक्ति-स्वरूप प्रकाश और विमर्श का नित्य सम्बन्ध ही, चैतन्यरूप से महापुरुषों की अनुभूति में आता है तथा शास्त्रों में प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होने पर भी वह प्रकाश और विमर्श की साम्यावस्था में अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परमपद' है, इसमें सन्देह नहीं............। कहने की आवश्यकता नहीं कि अखण्ड परमार्थस्वरूप शिव, शक्ति से अभिन्न रूप होते हुए भी, स्वातन्त्र्य-जनित विक्षोभ के कारण उसके द्वारा अथवा उसी में भेदमय विश्वप्रपञ्च का उदय होता है। अतएव, त्रिविधविभागविशिष्ट (निष्कल, निष्कल-सकल और सकल) समस्त विश्व मूलतः शक्ति का ही विकास है, यह सुनिश्चित है।"[१]

पूर्वोक्त साकार मध्य शक्ति अर्थात् महामाया जब इस सम्पूर्ण जगत् कार्य-कलाप का त्याग कर सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान एवं प्रबुद्ध रूप होकर योगियों के देह में विद्यमान है तब यह आनन्दस्वरूपा आत्मावबोधक सूक्ष्मा शक्ति कहलाती है। तात्पर्य यह है कि मूलाधार में स्थित यह कुण्डलिनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किन्तु शब्दात्मक-स्थूल जगत् एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है। सृष्टि रूपी कार्य में यह कुण्डलिनी कारण रूप से विराजमान है। इसी कारण यह साकार स्थूल शक्ति कहलाती है और नाभि-स्थान में विद्यमान यह शक्ति निज चतन्य

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ८५-८६

स्वरूप से साधक को अखण्ड आत्मा का बोध कराती है। यह प्रबुद्ध शक्ति सूक्ष्म रूप से निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। तात्पर्य यह है कि यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार की है। स्थूल जगत् की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है और नाभिचक्र में प्रबुद्ध होने पर यह सर्वव्यापक, सूक्ष्म और व्याप्तिव्यापक भाव से रहित है तथा विषय वासना से मोहित जन उसके भेद को नहीं जान सकते।[1] भाव यह है कि मूलाधारस्थ यह कुण्डलिनी सृष्टि-कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है तथा यही समस्त जीवों के जीवन का निर्वाह करती है। और नाभिचक्र में ध्यान द्वारा प्रबुद्ध एवं ऊर्ध्वगामिनी यह शक्ति व्याप्य-व्यापक भाव का त्याग कर सूक्ष्मा तथा उपाधि और अवयव विहीन होकर अखण्ड की द्योतक हो जाती है। विषयासक्त जन इसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर जन्म-मरण रूपी दुःख दावाग्नि में सदा दग्ध रहते हैं। अतः इसके यथार्थ स्वरूप का सम्यक् ज्ञान कर इस मध्य शक्ति महेश्वरी को प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्वगामिनी करना चाहिये जिसके फलस्वरूप जीव स्वस्वरूप का ज्ञाता बन जाता है क्योंकि "योगदर्शन में साधनाओं द्वारा पराशक्ति प्राणवायु को मणिधारचक्र से उठाकर हृदय के अनाहृतचक्र में स्थिर कर देने पर पश्यन्ती अवस्था होती है, यही ज्ञान शक्ति का कोण है। इसमें बीजाङ्कुर होता है, जिसे समाधि की प्रथमावस्था कहते हैं। फिर उस बीज से दो पत्तियाँ निकलती हैं जो कि आपस में चिपकी रहती हैं, यह मध्यमा अवस्था है। यही इच्छाशक्ति का कोण है, जिसे समाधि की मध्यम अवस्था कहते हैं। दो पत्तियों के पारस्परिक संघर्षण से जो रस क्षरण होता है, वह क्रियाशक्ति का कोण है। इसे समाधि की चरमावस्था कहते हैं, यही निर्जीव निर्विकल्प समाधि है, इसमें ब्रह्म के प्रकाश की अनुभूति होती है।"[2]

ज्ञानस्वरूप व्यापक पूर्वोक्त इस सूक्ष्मा शक्ति को आत्माभिव्यक्ति हेतु ऊर्ध्वोन्मुखी करना परमावश्यक है क्योंकि इसके प्रबोधन से योगियों को पिण्ड की सिद्धि होती है। कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश ही ऊर्ध्वशक्तिनिपात कहलाता है जिसके प्रसंग में निर्दिष्ट है कि समस्त जागतिक प्रपञ्चों के ऊपर की स्थिति ही ऊर्ध्व 'कहलाती है। उस परमपद के स्वरूप को अभिव्यक्त

---

१. सि० सि० सं०, ४।२५-३२

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ११६

करने वाली शक्ति ही ऊर्ध्वशक्ति है। जीव जब बन्धन के हेतु अज्ञान की अवस्था में पर और स्व को द्वैत भावना से देखता हुआ घोर दु:खदावाग्नि से सदा दग्ध रहता है, तब यह प्रबुद्ध सर्वव्यापी शक्ति उस भेद का निराकरण कर अखण्ड का ज्ञान कराती है।[1]

हठयोगपरम्परा में शिव-शक्ति का अभेद सम्बन्ध है क्योंकि कूटस्थ परमशिव भी स्वरूप से सर्वत्र व्यापक है तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली शक्ति भी सर्वत्र व्यापक है। शिव में शक्ति निहित है, शक्ति में शिव निहित है। दोनों वस्तुतः चिद्रूप हैं तथा उन दोनों में उसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है यथा चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका में क्योंकि विरल प्रकाश रूपी चन्द्रिका के प्रकाश पिण्ड समुदाय को ही चन्द्रमा कहते हैं। इन (विरल एवं पिण्ड) धर्मों के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है। "इस दृष्टान्त में महायोगी चन्द्रमा को अतिशय घनीभूत शान्त ज्योति, जो अपने भीतर स्वतः प्रकाशित है, के रूप में देखते हैं और चन्द्रिका को उसके चारों ओर समस्त दिशाओं में छिटकी हुई किरणों के रूप में, उसकी आत्माभिव्यक्ति मानते हैं।"[2]

दर्शनमाला में भी एक ही की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[3] नाथमत में कूटस्थ सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म और सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में संकोच एवं विकास वाली शक्ति चिद्रूप है। ये दोनों अभिन्न सर्वव्यापक और चिद्रूप हैं। डा० गोपीनाथ कविराज जी लिखते हैं कि "तान्त्रिकों की दृष्टि में शिव तथा शक्ति में कोई भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परमा शक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ, शवमात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं, एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः चित्स्वरूप में लिङ्गभेद नहीं है, इसीलिए वह अलिङ्ग होकर भी सर्वलिङ्ग रूप में प्रकाशित होता है तथा नाना लिङ्ग-रूप में प्रकट होने पर भी अलिङ्ग

१. सि० सि० सं०, ४।३३-३६
२. गोरख दर्शन, पृ० ६८
३. एकस्यैवास्ति सत्ता चेदन्यस्यासौ क्व विद्यते।
सत्यास्त्यात्माश्रयो यद्यप्यसति स्यादसंभवः॥ — दर्शनमाला—२।६

है।[1] यह यथानिर्दिष्ट श्वेताश्वतरोपनिषद् की ही प्रतिध्वनि है।[2] यह मूलगत परम साम्य ही अद्वैत स्थिति है। यही सामरस्य है, जिसके सम्बन्ध में श्रुतियों में भी कहा गया है।[3] यह स्थिति अभेदात्मक है, इसमें भेद नहीं है। परन्तु भेद न रहने पर भी दृष्टि भेद से विलक्षण है।........... समयी कहते हैं कि शिव और शक्ति में पाँच प्रकार का साम्य विद्यमान है (१) अधिष्ठान-साम्य (२) अनुष्ठान-साम्य (३) अवस्थान-साम्य (४) रूप-साम्य और (५) नाम-साम्य। दोनों के साम्य में सम-प्राधान्य ही है, शेष-शेषिभाव नहीं है।"[४]

इस प्रकार परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य से अभिप्राय यह है कि चिद्रूप सर्वत्र व्यापक अनादि शिव ही निजा, परा इत्यादि शक्ति-रूपों के द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों एवं पिण्डों का आधार मात्र है। इन दोनों तत्त्वों की सामरस्य स्थिति को समझकर सकलपिण्ड की आधारभूता कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना ही मुक्ति है क्योंकि समस्त जगत् प्रपञ्चावयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति ही सर्वत्र विराजित है। चेतन रूप समस्त तत्त्वों में पर महिमा युक्त सर्वत्र प्रकाशित है। भाव विषयक वस्तुओं में प्रकाश की तरह व्यापक एवं समस्त जागतिक विषयों में अनुगत यह संवित् है। स्वात्मानुभूति का हेतु भी यही है।[५]

चतुर्थ उपदेश का उपर्युक्त अन्तिम पद्य सम्भवतः गोरक्षनाथ जी रचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति में से लिया गया है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इस पद्य की व्याख्या करते हुए वर्णित है कि परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि समस्त भूत-भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति सर्वत्र है। चेतन के बिना जड़ वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है अतः

---

१. शिवो देवः शिवा देवी शिवं ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिङ्गमपि तत्तत्वं लिङ्गभेदेन कथ्यते॥
(कुमार कृत् तत्त्वप्रकाश-व्याख्या)

२. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं (स्यात्) नपुंसकः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१०

३. "परमं साम्यमुपैति दिव्यम्"।

४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३-४

५. सि० सि० सं०, ४।३८-३९

सबका आधार चेतन है। प्रकृति मायादि तत्त्वों में पर-महिमा-सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है। एवं भाव रूप स्थिर वस्तुओं में सूर्यप्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संवित् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चय रूप से बढ़ी हुई भी यह संविद् शक्ति ही है। इसी से प्राणी स्व-स्व कार्यों में तत्पर रहते हैं। या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है।[1]

बङ्गाल के शाक्त सन्त (सन् १७१८ ई०) श्री रामप्रसाद सेन कहते हैं कि "मां तारा, मां काली ! क्या ऐसा दिन भी आयेगा जब तारा-तारा पुकारते मेरी आंखों से आंसू की धारा उमड़ पड़ेगी ? हृदय-कमल खिल उठेगा, मन का अन्धकार दूर हो जायेगा और मैं धरती पर लोट-लोटकर तुम्हारे नाम को जपते-जपते आकुल हो जाऊंगा। भेद-भाव छोड़ दूंगा, मन की खिन्नता मिट जाएगी। अरे सौ-सौ वेद की ऋचाओ। मेरी मां तारा निराकार है, वह घट-घट में विराजमान है। ऐ अन्धे ! देखो न, माँ अन्धकार को हटाती हुई अँधेरे में ही विराज रही है।"[2] यह तो है शाक्त वाणी और गोरक्षनाथ "परा-संवित्' (शुद्ध चैतन्य) का वर्णन करते हुए कहते हैं (पुनः उसी अन्तिम पद्य का अनुवाद कुछ भेद से गोरखदर्शन पृ० ५२ से उद्धृत) कि "एक संवित् समस्त प्रकार के पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं के अंगों और गुणों को

---

१. सि० सि० प० ४।२८

२. ए मन दिन कि हबे तारा।
जब तारा तारा तारा बले ॥
तारा बये पड़बे धारा ॥
हृदि पद्म उठ्बे फुटे मनेर आंधार जाबे घुटे,
तखन धरातले पड़ब लूटे, तारा बले हब सारा ॥
त्याजिब सब भेदाभेद, घुचे जाबे मनेर खेद,
ओरे शत शत सत्य वेद, तारा आमार निराकार ॥
श्रीरामप्रसाद रटे, मा विराजै सर्ब्ब घटे,
ओरे आखि अन्ध, देख माके तिमिरे तिमिर-हरा ॥
(सन्त वाणी अंक—कल्याणाङ्क संख्या (२९) सन् १९५५)
पृ० ३३८

एकत्रित करने वाला तथा समस्त प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में सर्व-गौरवपूर्ण अकेला प्रकाशमान है। वह एक संवित् समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा नानावस्तुरूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सब प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक प्रकार के आत्मगत रूपों में प्रकट करता हुआ कौशल से यह एक संवित् अनेक सीमित विशेषताओं को धारण कर लेता है।"[1]

इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि परम, निजा, परा इत्यादि शक्तियों से ही इस ब्रह्माण्ड रूप समष्टि एवं पिण्ड रूप व्यष्टि में समाया हुआ है। उसकी अपनी शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही सृष्टि और लय है। यही शक्ति कुण्डलिनी रूप से देह पिण्ड में विद्यमान है, इसका प्रबुद्ध होना ही आत्मावबोध है। क्योंकि उस शक्ति के प्रबुद्ध होने से यह परम और जीव की द्वैत भावना का निराकरण कर अखण्डाद्वैत को प्रकाशित करती है। यही है योगियों की सहज समाधि।

---

१. सत्त्वे सत्त्वे सकल रचना राजते संविद् एका,
तत्त्वे तत्त्वे परम महिमा संवित् एवावभाति।
भावे भावे बहुल तरला लम्पटा संविद् एका,
भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संविद् एव॥
—सि० सि० प०, ४।२८

पञ्चमोपदेश

इस उपदेश में योगियों की साधना के अन्तिम आदर्श **'समरसकरण'** को उपस्थापित किया गया है। व्यष्टि पिण्ड का समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसीकरण कहलाता है। साधक के द्वारा व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होने पर कूटस्थ शिवशक्ति रूप परमपद में समरस की भावना करनी चाहिए। जिसके फलस्वरूप **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'** अर्थात् समस्त पदार्थों का और आत्मा का भेद नष्ट हो जाता है। जीव ही शिवस्वरूप हो जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड के शिवमय होते ही **' न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।'**[1]

इस सम्प्रदाय की योग साधना का चरम लक्ष्य पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों तथा शाङ्कर वेदान्त की धारणाओं से मूलतः भिन्न है और प्राचीन व मध्यकालीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप है। इसी आदर्श को सामरस्य कहते हैं, जिससे अभिप्राय है कि समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना। यह प्रक्रिया सांख्यदर्शन की परातत्परता तथा वेदान्तिक मायावाद की उदात्तता इन दोनों से ही भिन्न है। पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति के मध्य एकत्व ही इसका सिद्धान्त है। इस अवस्था में शिव-शक्ति समरस होकर अभिन्न एवं अविभाज्य बन जाते हैं,[2] यथा अग्नि और दाहकता। वैषम्य से रहित अवस्था ही समरस भाव है, इसे अद्वयावस्था भी कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में दो या बहुतों का भेद तो रहता ही नहीं अपितु वैषम्य के बीज का भी अभाव हो जाता है। यही अवस्था चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा है। इसके परे जो अवस्था है वह अनाम, बुद्धि के अतीत, अव्यक्त और स्वयम्प्रकाश है। वह निर्विकल्प निरुत्थान निर्द्वन्द्व स्थिति है।[3] दर्शनमाला में श्री नारायण गुरु ने निर्वाण को शुद्ध और

---

१. मुक्त होने पर पुरुष पुनः लौटकर नहीं आता।

—छान्दोग्योपनिषद् ८।१५।१

२. प्रस्तावना—गोरख दर्शन—डा० गोपीनाथ कविराज

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १८४-८५

अशुद्ध भेद से दो प्रकार का कहा है।[1]

नाथमत में वह साधक श्रेष्ठ नहीं जो केवल एक ही पिण्ड व्यष्टि अथवा समष्टि को जानता है, अपितु श्रेष्ठ साधक वही है जो व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड को सम्यक् ज्ञात कर उनका परमपद में समभाव करता है। इस मत में पिण्ड सिद्धि सामरस्य की पूर्व स्थिति निर्दिष्ट है। परमपद और समष्टि-व्यष्टि पिण्डों का समरस करने वाले योगनिष्ठ साधक की समस्त इच्छाओं का नाश हो जाता है। यह कठोरतम साधना गुरु निर्देशन के अभाव में कभी सफल नहीं हो सकती।

गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार परपिण्ड और स्वपिण्ड को चित्त में धारण कर परमपद में उनका रससाम्य करना चाहिए। वह परमपद स्वसंवेद्य एवं अत्यन्ताभासाभासकमय है।[2] द्वैताद्वैतविवर्जित वह परमपद स्वानुभवैकगम्य है। वह स्वसंवेद्य और स्वप्रकाशरूप है। अर्थात् परमपद स्वयं चेतन प्रकाशमय होने के कारण अन्य जड़ प्रकाश से प्रकाशित न होकर उन (जड़) प्रकाशों को प्रकाशित कर स्वयं भासित होता है। कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि उस स्वप्रकाश परब्रह्म के समीप यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्य का तेज भी उस असीम तेज के सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्र, तारागण और विद्युत् भी वहाँ नहीं चमकते फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या? समस्त जगत् के

---

१. निर्वाणं द्विविधं शुद्धमशुद्धञ्चेति तत्र यत्।
शुद्धं निर्वासनं तद्वदशुद्धं वासनान्वितम्॥
अतिशुद्धं शुद्धमिति शुद्धं च द्विविधं तथा।
अशुद्धशुद्धञ्चाशुद्धमशुद्धाशुद्धमुच्यते॥
अतिशुद्धं त्रिधापश्चाद्वरे चैकं वरीयसि।
एकमेकं वरिष्ठेऽथ शुद्धं ब्रह्मविदि स्थितम्।
अशुद्धशुद्धं विरजस्तमोऽन्यत्सरजस्तमः।
मुमुक्षौ प्रथमं विद्याद् द्वितीयं सिद्धिकामिषु॥
दग्ध्वा ज्ञानाग्निना सर्वमुद्दिश्य जगतां हितम्।
करोति विधिवत्कर्म ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(वेदान्तदर्शन, दर्शन माला-१०।१-५)

२. सि० सि० सं०, ५।१-३

प्रकाशशील तत्त्व उसी परमतत्त्व की प्रकाश शक्ति के अंश को पाकर ही प्रकाशित होते हैं।[1]

आगम मत में परम शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरमावस्था है, जिसमें शिव और शक्ति का साम्य प्रकट होता है। शिव भाव अभिव्यक्त भाव का प्रकाश है, जिसके कारण सब कुछ प्रकाशित होता है और कुछ भी न रहने पर जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकाश की अहंरूप विमर्शन ही शक्ति है।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि परम-पद बुद्धि और मन से भी अतीत है, स्वरूप में स्थित कराने वाली कला भी उसका निर्वचन नहीं कर सकती, ऊहापोह और तर्क-वितर्क भी जहाँ नहीं पहुँच सकते वहाँ वाणी तो कर ही क्या सकती है। जब वह परमपद मन और वाणी से अतीत है तो गुरु भी उसका उपदेष्टा किस प्रकार से बन सकता है, अतएव स्वयं महेश्वर ने उस परमपद को स्वसंवेद्य कहा है।[3] उस परम को योग-समाधि द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है या वह परम उसके लिए लभ्य है, जिसके लिए वह अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।[4]

वह परमपद विविध प्रकार के विचारों में निपुण विद्वानों की चर्चा के प्रसङ्ग से भी अलभ्य है। उस निरुपाधि परम को उपाधि रहित गुरु ही स्वसंवेद्यता के आधार पर बता सकता है क्योंकि सन्मार्ग (योग-मार्ग) को जानने वाले गुरु द्वारा स्वसंवेद्य स्वरूप का बोध होता है।[5] शिव-शक्ति सदृश गुरु-शिष्य के सामरस्य की भी आवश्यकता होती है।[6]

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५, मुण्डकोपनिषद्, २।२।१०

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६०

३. सि० सि० सं०, ५।४-५

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
—कठोपनिषद् १।२।२३

५. सि० सि० सं०, ५।६

६. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १६२

सामरस्य की प्राप्ति से पूर्व स्वविश्रान्ति अत्यन्त आवश्यक है और जिसके कारण है स्वसंवेद्य गुरु।[1] गुरु की कृपापूर्ण दृष्टि से एक क्षण में ही चित्त विश्रान्त हो जाता है।[2] चित्तविश्रान्ति के अनन्तर परम का सक्षात्कार और इसके बाद परमपद में अपने पिण्ड का समरसीकरण होता है। तब उत्पन्न होती है आत्यन्तिक निरुत्थानदशा।[3]

परम्परा से प्राप्त सन्मार्ग (योग-मार्ग) प्रदर्शन की योग्यता में समर्थ ही वास्तव में गुरु संज्ञक हैं क्योंकि वास्तविक आत्मविश्रान्ति (स्वसंवेद्य स्वरूप अथवा अखण्ड व्यापक आत्मज्ञान) के प्रदाता की सामर्थ्य उन्हीं में है। अतएव गुरु का देवभाव से चिन्तन करना चाहिए। यहाँ सन्मार्ग का अभिप्राय योग-मार्गातिरिक्त मार्ग का निषेध है। उस गुरु के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने के अनन्तर स्वसंवेद्य होता है, क्योंकि उस क्षण जब परमपद प्राप्ति के उपाय सन्मार्ग का अवलोकन कराने वाले गुरु आत्मज्ञानोपदेष्टा के रूप में उपस्थापित होते हैं तब आत्मसाक्षात्कार सहित अष्ट सिद्धियों का आविर्भाव होता है। इसी हेतु गुरु को आत्मविश्रान्ति के रूप में उपस्थापित किया गया है। अतः यह स्पष्टोक्त है कि ज्ञानहीन गुरु का त्याग[4] और सन्मार्ग के उपदेष्टा गुरु का देव भाव से चिन्तन करना चाहिए।[5] इस प्रकार के गुरु की करुणार्द्र कटाक्ष से मुनि लोग सब सिद्धियों के फलों का त्याग कर स्वात्मैकवेद्य रूप से निरुत्थानत्व की प्राप्ति के उपरान्त कृतार्थ होते हैं और स्वपिण्ड को परपिण्ड के साथ शुद्धचैतन्य का निश्चल अभेदानुभव द्वारा समरस की योग्यता में सामर्थ्य पाते हैं। अर्थात् जब योगी योग्य गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर परपिण्ड को समस्त चराचर सहित स्वपिण्ड में अभेदानुभव की योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब ध्येय और ध्यान की अभिन्नत्वावस्था से निजावेश (समष्टि और व्यष्टि तथा जीवात्मा और परमात्मैकता की भावना से निजदेहाभिमान अर्थात् निज पिण्ड के सञ्चालन सदृश परपिण्ड

---

१. सि० सि० सं०, ५।७

२. किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्बिना गुरुकृपां पराम्॥

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६

४. सि० सि० सं०, ५।३८

५. वही, ५।८

सञ्चालन की योग्यता का होना) होता है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी सम्भवतः इसी दशा की ओर संकेत करते हुए वर्णित है कि वही (भूमा) नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में है। वही यह सब है। अब उस (भूमा) का अहङ्कार आदेश है। मैं नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में हूँ। मैं ही यह सब हूँ। अब उस (भूमा) का आत्मा आदेश है। आत्मा ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण और उत्तर है, आत्मा ही यह सब है। निश्चय वह यह (विद्वान्) इस प्रकार देखता, मनन एवं जानता हुआ तथा आत्मा में ही क्रीड़ा, रत, योग और आनन्द प्राप्त करता हुआ स्वतन्त्र अधिपति होता है। उसकी सब लोकों में स्वतन्त्र गति होती है। यह निश्चय है कि इस प्रकार देखने, मनन और जानने वाले उस विद्वान् को आत्मा ही से यह सब प्राप्त होता है। आत्मा से ही प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र और कर्म आत्मा ही से सब प्राप्त होते हैं।[2]

निजावेश से स्थायी महानन्दावस्था और अमलानन्दमय प्रकाश का उद्भव होता है। इस परम प्रकाश के अनुभव से द्वैत-भावना रूपी भेद के नष्ट होने पर स्वसंवेद्यानुभवाधार से अभिन्न, अद्वैत, अपारचैतन्यभासक परमपद का उदय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वचित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। यही महानन्दावस्था है। तब केवल स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और साधक उस अवस्था में नित्य अस्खलित भाव से विराजमान हो जाता है, फलस्वरूप अभिन्न परमपद का उदय होता है। परमपद के अनुभव के प्रभाव से भली प्रकार स्वपिण्डज्ञान उत्पन्न होता है और स्व का परम में निर्वाण और ऐक्य प्राप्त होता है। इसके पश्चात् स्वरश्मिपरावृत्ति नाम का द्वितीय उन्मेष प्रकट होता है और उसका त्याग होना ही समरस क्रिया है। तब निज किरण-पुंजों का स्वस्वरूप से साक्षात्कार होता है।[3] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि व्यष्टिपिण्ड को सम्यक् प्रकार से जानकर उसे परम में एकीकृत कर और उस परमपद को अपने व्यष्टि-पिण्ड में एकात्मस्वरूप कर निरन्तर एकता की आवृत्ति करनी चाहिए। इससे साधक परमपद का अनुभव करते हैं। उनके व्यष्टि-पिण्ड में ही सर्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनन्तर स्वपिण्डपरीक्षा करते हुए कहा गया है कि निज

---

१. सि० सि० सं०, ५।९-१०
२. छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५-२६ खण्ड।
३. सि० सि० सं०, ५।११-१४

शरीर में भी परमात्मस्वरूपकिरणरूप आनन्द का ही विस्तृत विकास होता है। उस आनन्द विकास को पुनः स्वपिण्ड में समेट लेना ही समरसकरण कहलाता है।[1] इस स्थिति में अद्वय का बोध होता है जिससे द्वैत और अद्वैत की एकता हो जाती है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि मैं प्रज्ञाता, प्रशान्त, प्रकाशरूप परमेश्वर हूँ तथा द्वैत और अद्वैत से भिन्न मैं ही एकमात्र चिन्तनीय हूँ।[2] सिद्ध जालन्धर जी ने भी नाथ को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा है।[3]

एक ही तत्त्व की उद्घोषणा परवर्ती उपनिषदों में भी की गई है। ब्रह्मोपनिषद् में वर्णित है कि उस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नहीं है, माता, माता रूप में नहीं है, भार्या, भार्या रूप में नहीं है, चाण्डाल, चाण्डाल रूप में नहीं है, भील, भील रूप में नहीं है, सन्यासी, संन्यासी रूप में नहीं है और वानप्रस्थी, वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदा एक ही रहकर निर्वाण स्वरूप में प्रकाशित होता है।[4] ब्रह्मविद्योपनिषद् में निर्दिष्ट है कि मैं नित्य, निर्दोष, निष्क्रिय, निरञ्जन, निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ।..... ....। मैं परामृत एवं पुरातन, पूर्णानन्द, एकबोधरूप तथा एकरस रूप हूँ।[5]

समरस भाव की चर्चा बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध होती है। इनकी सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय का भेद समाप्त हो जाता है। इस दशा में हीन, मध्य और उत्कृष्ट सभी भाव सत्त्व भाव से समरूप हो जाते हैं। समर-

---

१. सि० सि० प०, ५।१०-११

२. प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्, १०१

३. वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरमहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृ व्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादविशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतंवाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

४. ब्रह्मोपनिषद्, २

५. ब्रह्मविद्योपनिषद्, ९७-१००

सता की चर्चा हेवज्रतन्त्र के अतिरिक्त भी प्राप्त हो जाती है।[1] प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही वज्रयोग है।...............यह समरसता अद्वय भाव की द्योतक है।[2]

पूर्वोक्त पिण्डसिद्धि के अनन्तर योगियों में सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु साधक को उन प्राप्त सिद्धियों में आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि सर्वत्र व्यापक परमपद को जान लेने पर समस्त जागतिक प्रपञ्च अनायास ही जाना जाता है। अतएव परमपद को ही जानना चाहिए और वह सहज, संयमयुत, सोपाय और साद्वय क्रम से परिलक्षित होता है। इन ज्ञानों के सिद्ध होने पर साधक को स्वविश्रान्ति होती है[3] और तब होती है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा।

सहज—यद्यपि परमपद विश्व से अतीत हैं किन्तु स्वशक्ति से नाना रूप धारण कर विश्व में व्याप्त है। तत्त्व की दृष्टि से वह एक ही है। ऐसा स्वाभाविक ज्ञान सहज कहलाता है।[4] "यह विश्वातीत परमेश्वर की विश्वरूप में अवस्थिति अथवा आत्मा में विश्वदर्शन है।"[5] श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि जो निज शक्तियों से सभी लोकों पर प्रभुत्व रखता है, वह रुद्र एक ही है। सभी देहधारियों में स्थित होकर लोक की रचना करता हुआ सबका रक्षणीय है और प्रलयावस्था में सबको अपने भीतर समेट लेता है।[6] जबकि पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि तत्त्व की दृष्टि से एक ही तत्त्व वास्तविक है तथा व्यावहारिक दृष्टि से सब कुछ आभास मात्र है। यह सब अद्वैत ही है।[7]

---

१. समं तु तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतः।
समरसं त्वेकभावत्वमेतेनात्मनि भण्यते॥
२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९७-१९८
३ सि० सि० सं०, ५।१५-१७
४. वही, ५।१८
५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
६. श्वेताश्वतरोपनिषद्।
७. तत्त्वदृष्टया तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥
प्रकाश एव सततं तस्माद्द्वैत एव हि।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥
पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, उत्तरकाण्ड, १९-२०

ससंयम—देह में स्थित विषयों के प्रति जाने वाली वृत्तियों को विषयों से निवृत्त कर संयत भाव से आत्मा में लगाना ही संयम कहलाता है।[1] "देदीप्यमान सब वृत्तियों को आत्मा में संयतभाव से धारण करना।"[2]

सोपाय—प्रकाशमय आत्मा को सर्वत्र व्यापक रूप से एक जानकर उसी में स्थित रहना सोपाय ज्ञान कहलाता है।[3] इस ज्ञान से अखण्ड आत्मा का बोध होता है। "प्रकाशमय आत्मा को स्वयं ही स्वरूपतः एक कर लीला-भाव से स्थिति।"[4]

साद्वय—अजाति का सत्त्वदर्शन ही साद्वय कहलाता है।[5] इस दशा में आत्मा की परमात्मा में अभेदता हो जाती है। अद्वयतारकोपनिषद् में वर्णित है कि जीव और ईश्वर को मायिक जानते हुए अन्य सबको नेति-नेति कहते हुए जो कुछ शेष रहता है वही अद्वय ब्रह्म है।[6]

ये चारों भाव परमपद प्राप्ति के हेतु हैं। तब योगी निरुत्थान भाव से परमात्मस्वरूप में सदा तृप्त होता रहता है। और साधक निरुत्थान दशा में स्थित हो जाता है। परमपद प्राप्ति के इन चारों साधनभूत उपायों को संक्षेप में इस प्रकार से कहा जा सकता है कि जीव और परम का अभेद सहज, इन्द्रिय-निग्रह संयम, स्वविश्रान्ति सोपाय और परमपद अद्वैत है। इसको सद्गुरु के मुख से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्र ग्रन्थों द्वारा, न कर्तृत्व न विज्ञान, न हठपूर्वक वेदपाठ, न वैराग्य, न निराशा, न प्राणायाम, न मुद्रा धारणा, न मौनव्रत धारण, न औदासीन्य, न निर्वाण, न कायक्लेश, न दास्यता, न सन्देश, न नानाव्रतों के पालन, न षड्दर्शन, न वेषधारण, न मुण्डन और न ही अनन्त उपायों के द्वारा परमपद का बोध होता है। अपितु सद्गुरु की कृपादृष्टि होने पर ही परमभक्त शिष्य को परमपद का बोध होता है। यह शिक्षा औपदेशिक अथवा दृष्टिपात अथवा करुणा-वलोकन से पूर्ण होती है।[7] इस उपाय को शक्तिपात कहते हैं। इसका दूसरा

---

१. सि० सि० सं०, ५।१९
२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
३. सि० सि० सं०, ५।२०
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
५. सि० सि० सं०, ५।२१
६. 'जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म'। अद्वयतारकोपनिषद्-३
७. सि० सि० सं०, ५।२२-३०

नाम कृपा या भगवदनुग्रह है।[1] यह शक्तिपात सद्गुरु ही कर सकता है। इस कृपा के परिणामस्वरूप साधक परमपद को प्राप्त करता है।

इसके अनन्तर सद्गुरु लक्षण के अन्तर्गत निर्दिष्ट है कि सम्यक् आनन्दोत्पादक सद्गुरु कहलाता है। क्योंकि सद्गुरु के चतुर्थांश निमेष दृष्टिपात से शिष्य आत्मानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे सम्यक् ज्ञान के उपदेष्टा गुरु को नमस्कार है। स्वस्वरूपानन्द ज्ञान बोधक उपदेशों से नाना संकल्प-विकल्प रूपी उद्वेगों को शान्त करने वाला ही सद्गुरु है न कि परमपद के स्वरूप से वञ्चित कराने वाला मिथ्यावादी। जो शिष्य को सम्यक् चैतन्य विश्रान्ति का उपदेश प्रदान करे, वही सद्गुरु है क्योंकि उससे परमपद प्राप्त होता है।

जिसकी करुणापूर्ण दृष्टि से पारा भी स्थिरता प्राप्त करता है, ऐसे करुणामय परमनिधि गुरु में ही मन मग्न होना चाहिये न कि अन्य वाद और तर्क-वितर्क रूपी मकरों के उछलने से अत्यन्त भयदायक और अभेद्य भ्रमों को धारण करने वाले अत्यन्त कठोर संसार रूपी लवण सागर में। सद्गुरु के सम्यक् उपदेशों से ही परमपद प्राप्त हो सकता है अन्य उपाय तो केवल नामधारक मात्र ही हैं।[2] शैव और शाक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदायों में भी गुरु की महिमा का गुणगान किया गया है। 'श्री हरि भक्ति विलास' में वर्णित है कि 'जो परम भागवत है अर्थात् जो पूर्णरूप से वैष्णव धर्म में रत है, ऐसा ब्राह्मण ही जनों का गुरु होता है और वह श्रीहरि सदृश ही सभी लोकों में पूजनीय है। जो शिष्य से सेवा तथा धनादि प्राप्त करने का इच्छुक होता है, वह गुरु कहलाने योग्य नहीं है। जो कृपा-सिन्धु एवं सब प्रकार से परिपूर्ण, सबका उपकारक, निःस्पृह, सिद्ध, सर्व-विद्याविशारद, संशयों का भेद करने वाला और आलस्य रहित हो, वही

---

१. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० ७८
इसकी विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य—वही, ७८-९८, लेखक—महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज, तथा भारतीय दर्शन, पृ० ४१३-४१४, ४७४-४७५, लेखक—आचार्य बलदेव उपाध्याय, और भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा पृ० २८३, २९०-२९१ लेखक—डा० किशोरदास स्वामी।

२. सि० सि० सं०, ५।३१-३७

वास्तव में गुरु कहलाता है ।[1]

आत्मनिष्ठ गुरु ही सम्यक् ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है अन्य नहीं क्योंकि उसी की कृपा से साधक शिष्य को परमपद की प्राप्ति होती है। जो गुरु आत्मनिष्ठ न हो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। स्वयं ग्रन्थ-कार कहते हैं कि भ्रमोत्पादक, मिथ्यावादी और ज्ञानरहित गुरु त्याज्य है, क्योंकि जो स्वयं ही स्वविश्रान्ति को नहीं जानता वह दूसरों के लिये कर ही क्या सकता है। वैसे भी शिला के संग शिला कभी भी पार नहीं पा सकती जो स्वयं पार करना जानता हो, वही दूसरों को पार लगा सकता है। इसी प्रकार स्वविश्रान्ति से रहित गुरु भी शिष्य को स्वविश्रान्ति नहीं करा सकता। अतएव बन्धनमुक्त ही दूसरों के बन्धनों को काट सकता है। विषयवासना तरंगों वाले इस संसार सागर को पार कराकर परमपद को प्राप्त कराने वाला ही वास्तव में गुरु संज्ञक है क्योंकि उसकी कृपा से शिष्य ब्रह्मस्वरूपमय होकर निश्चित ही स्थिरता को पाता है। सिद्ध गुरु तो असंख्य कुलों को भी क्षणमात्र में इस संसार सागर से पार लगा देता है। तथा जो शिष्य अपने गुरु के दृष्टिपात अथवा औपदेशिक अथवा करुणावलोकन को धारण कर लेता है, वह शिष्य इस संसार से पार तथा स्वस्वरूप में स्थिर हो जाता है। अतः संसार के जन्म-मरण रूपी बन्धनों से जो मुक्त करा देता है, ऐसे सद्गुरु को तीनों कालों में अभिवादन करना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह सहस्रकोटिशास्त्रों से भी निराकरण न होने वाली भ्रान्तियों के निवारणार्थ गुरु के समीप बड़ी विनम्रता से उपस्थित हो। इस प्रकार गुरु की परम कृपा से समस्त इन्द्रियों को मन सहित जीतने वाले और परम शान्ति को प्राप्त स्वस्वरूपात्मानन्द में मग्न योगियों का विशेष रूप से निरुत्थान होता है। और तब अर्धपल मात्र में ही दुर्लभ परमपद भासित हो जाता है। उस भासित परमपदपिण्ड में व्यष्टिपिण्ड सहसा लीन हो जाता है अर्थात् समष्टि-व्यष्टि का समरस। पिण्ड में लीन होने पर योगी सर्वसिद्धियों में

---

१. महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् ।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ।।
परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्नहि ।
कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ।।
निःस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ।
सर्वसंशयसंछेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः ।।
श्री हरिभक्तिविलास कल्याणाङ्क, १९५८ पृ० ७११

सिद्ध हो जाता है, अर्थात् योगी में परमतत्त्व सदृश समस्त सिद्धियों का आविर्भाव हो जाता है। वह योगी इच्छावेगी, सबका कर्त्ता और जन्म-मरण से रहित हो जाता है। वह देव और दैत्यों से अबध्य होकर भगवान् भैरव सदृश क्रीड़ा करता हुआ निश्चित ही लीला से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। सब असाध्य सिद्धियाँ ईश्वर द्वारा प्रोक्त हैं, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। प्रथम वर्ष में साधक रोगों से मुक्त और सर्वलोकप्रिय हो जाता है। उस नित्य-आत्मरूप में स्थित रहने वाले के सभी दर्शन करना चाहते हैं। द्वितीय में काव्य और तत्त्वभाषा में नैपुण्य। तृतीय में देवसदृश दिव्यदेह। चतुर्थ में दूरश्रावी। पंचम में वाक् और परकायप्रवेश सिद्धि। षष्ठ में शस्त्र और वज्रपात के भय से रहित देह वाला। सप्तम में वायुसदृश वेगवान्, पृथ्वी-त्यागी और दूरदर्शी। अष्टम में अणिमादि अष्ट महासिद्धियों से युक्त। नवम में वज्रकाय, आकाशगामी और दिक्चर, अर्थात् समस्त दिशाओं में अबाध गति से विचरण करने वाला। दशम में पवन से अधिक वेगवान् होकर जहाँ जाना चाहे जा सकता है। एकादश में सर्वज्ञ और सर्वसिद्धियों से युक्त और द्वादश वर्ष में शिवतुल्य स्वयं ही समस्त विश्व का कर्त्ता-हर्त्ता होकर तीनों लोकों में पूजित होता है। यह कथन एकदम सत्य और भगवान् भैरव द्वारा प्रोक्त है। इस प्रकार साधक सद्गुरु के चरणों के प्रसाद से द्वादशवर्षपर्यन्त महाबलशाली हो जाता है। अतः जो साधक निजविश्राम का स्वयं अनुभव करना चाहता हो वह श्री गुरु-चरणकमलों का ही आश्रय ले, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट विधि के पालन से शीघ्र ही समरसकरण होता है। इस प्रकार सद्गुरु की कृपा के बिना निरुत्थान असम्भव है। परमपद की प्राप्ति केवल गुरु के प्रसाद से ही सम्भव है, यह नितान्त सत्य है।[1] डा० गोपीनाथ कविराज के शब्द यहाँ उचित प्रतीत होते हैं—"शिव और शक्ति के सामरस्य के तुल्य गुरु और शिष्य का सामरस्य भी आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य जिस प्रकार गुरु-स्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है, गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्य-स्वरूप में विश्रान्त होते हैं। शिष्य जैसे गुरु में आत्मसमर्पण कर अपने को खो डालता है अथवा गुरु में स्थिति लाभ करता है, ठीक वैसे ही गुरु भी शिष्य को आत्मसमर्पण करते हैं, तभी तो शिष्य गुरु-स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।...............यह सामरस्य अवस्था में पहुँचने की सीढ़ी है।"[2]

---

१. सि० सि० सं०, ५।३८-५६

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ०, १९२-१९३

षष्ठोपदेश:

पिण्डपद और परमपद के समरसीकरण के उपरान्त अवधूत योगी के स्वरूप की चर्चा की गई है। अवधूत रूप अधिकारी का लक्षण करते हुए वर्णित है कि जो सभी प्रकृतिजन्य विकारों का विधूनन करता है, अर्थात् समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त रहकर एकमात्र समरस में स्थित रहने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है।[1] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि समाधि के निरन्तर अभ्यास से जनित ब्रह्मरूप अमृतपान में परायण सन्यासी परमहंस अवधूत होता है। उसके दर्शनमात्र से ही समस्त जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा करने से अज्ञ भी मुक्त हो जाता है तथा उसके एक सौ एक कुल तर जाते हैं।[2] अवधूतोपनिषद् में कहा गया है कि जो अविनाशी श्रेष्ठ, बन्धन-मुक्त और तत्त्वमसि आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ हो, वह अवधूत कहलाता है। जो साधक आत्मा में सदा रत हो वह अवधूत कहलाता है।[3]

संस्कृत ग्रन्थों में इस नाथ-सम्प्रदाय के विभिन्न नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा "सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्धमार्ग (योगबीज) योगमार्ग (गो० सि० सं०, पृ० ५, २१), योग-सम्प्रदाय (गो० सि० सं०, पृ० ५८) अवधूत मत (पृ० १८), अवधूत-सम्प्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि।"[4]

इस अवधूत लक्षण के उद्धरण देते हुए निर्दिष्ट है कि जिसने अविद्या इत्यादि क्लेश तरङ्गों का उच्छेदन कर उनका त्याग किया है, तथा जो सभी अवस्थाओं से मुक्त हो गया हो उसे अवधूत कहते हैं। कटिप्रदेश में कौपीन धारक अवधूत कहलाता है।[5] निर्वाणतन्त्र में शिव अवधूत के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसका अङ्गभूषण भस्म हो, वह अवधूत

---

१. सि० सि० सं०, ६।१-२

२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।६

३. अवधूतोपनिषद्—१, २

४. नाथसम्प्रदाय, पृ० १

५. सि० सि० सं०, ६।३-४

कहलाता है।[1] मुक्ति द्वार पर जिसकी मति अत्यन्त प्रकाशवती हो जाती है तथा जो माया विकारों से रहित हो वह सात्त्विक कहलाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध से राग-द्वेष को त्याग कर जिसने निर्मल आकाश में चित्त को मग्न कर लिया हो, अर्थात् चित्त को निर्मल आकाश सदृश समस्त जागतिक प्रपञ्चों से निर्लेप कर लेता है, वह क्षपणक कहलाता है। समस्त भ्रान्तियों को निरस्त कर जिसका ध्यान सहस्रार में सदा रत रहता है, ऐसा बोध-ज्ञाता प्रबुद्ध कहलाता है। सृष्टि का प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव है जो साधक इस प्रसार और सङ्कोच का संयोगकर्त्ता हो वह योगिराज कहलाता है[2] क्योंकि प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परम मुक्ति है। शिव और शक्ति अन्योन्याश्रयभूत हैं, शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, और वही अखण्डतत्त्व शिव-शक्ति रूप में प्रकट होता है। शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही जगत् की सृष्टि और लय है। वास्तविक दृष्टि से शिव-शक्ति अभिन्न हैं और व्यावहारिक दृष्टि से शक्ति का प्रसार सृष्टि, शक्ति का सङ्कोच लय है और अवशिष्ट रहता है केवल शिव, इस प्रसार और संकोच का संयोग करने वाला ही सिद्धयोगी कहलाता है। यही है सामरस्य। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित है कि शक्ति विश्व का सृजन, शिव परिपालन, काल संहार और नाथ मुक्ति प्रदाता हैं।[3] विश्वातीत विश्व में विराजमान परमशिव से जो संयोग करता है, अर्थात् समाधि में जो साधक उससे अभिन्नत्व स्थापित करता है वह सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों की विसृति करता है वह सिद्धसिद्धान्त में महाबलशाली सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों से उदासीन, शान्त-चित्तस्वरूप का प्रकाशक और महानन्दमय धीर युक्त हो उसे सिद्धयोगि-राज जानना चाहिए। जो आप्तकाम से सदा प्रसन्न रहता है, सबका प्रदाता है ऐसे निर्भरानन्द विश्रान्तात्मा को ही सिद्धयोगिराज जानना चाहिए। हर्ष-

---

१. "वीरस्य मूर्ति देवेशि ! सदा भस्माङ्गभूषणाम्"

निर्वाण-तन्त्र-चतुर्थ पटल

२. सि० सि० सं०, ६।५-६

३. शक्त्या तु सृज्यते विश्वः शिवेन परिपाल्यते।
कालेन संह्रियते च मुक्तिर्नाथेन दीयते॥

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ४४

शोक में सम, नित्यानन्द, नित्यपरिपूर्णात्मा में संलग्न योगी ही कालपाश से सदा मुक्त रहता है। इस प्रकार इन उपदेशों का पृथक्-पृथक् ज्ञान जब हो जाता है तब योगी सुख-दुःख रहित पूर्णविश्रान्ति का लाभ पाता है। अर्थात् चित्त विश्रान्त हो जाता है।[1]

इस उपदेश के अन्त में ग्रन्थकार स्व एवं ग्रन्थ सम्बन्धी परिचय देते हुए लिखते हैं कि शिवनगरी काशी में राजा श्रीकृष्णराज की आज्ञा से शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न बलभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का प्रणयन किया।[2]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समरसकरण को पूरा करने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है। ऐसा योगी जो सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर स्वात्मानन्दरूप से विचरण करता है अवधूत कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों को करता हुआ भी सहज समाधि में सदा स्थित रहता है अवधूत कहलाता है।

—०—

१. सि० सि० सं०, ६।१०-१५
२. वही, ६।१६-१७

सप्तमोपदेश:

अवधूतरूप अधिकारी के विस्तृत विवेचन के अनन्तर इस उपदेश में सिद्धमत की स्थापना की गई है। इस सिद्ध से अभिप्राय यह है कि जिसने समरसीकरण कर लिया हो। अन्य प्रकार की कष्ट साधनाओं के साधक केवल कुछ क्षण का ही सुख प्राप्त करते हैं परन्तु वे आत्यन्तिक निरुत्थानत्व की प्राप्ति से सदा ही वञ्चित रहते हैं। इस दशा हेतु परमावश्यक है सामरस्य, जिसकी स्थापना इस ग्रन्थ में की गई है। सिद्धमत की स्थापना से पूर्व अन्य मतों का खण्डन करते हुए वर्णित किया गया है कि लौकिक तर्क निपुण, स्वदेह को आत्मा मानने वाले, प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक परलोक से वञ्चित होकर इस असार संसार से कभी भी पार नहीं पा सकते। इसी प्रकार पाप में रत निर्दय यवन भी इस लोक के क्षणिक सुख हेतु परमपद से वञ्चित हो जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों के कोष रूप सहस्रारचक्र के ऊर्ध्वभाग में स्थित त्रिकोणयन्त्र के छिद्र ब्रह्मरन्ध्र के ध्यान से तथा उससे अधःस्थित ललाट, भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकाग्र, श्रोत्र, कण्ठमूल, कण्ठ, हृदय, नाभिमूल, त्रिकोणकमल, और स्वाधिष्ठान आदि के ध्यान से भी परमपद रूप निरुत्थान पद की प्राप्ति नहीं होती। जो सर्वप्रथम पूरक, कुम्भक और रेचक विधि से नाड़ी पथ का शोधन कर हृदयपद्म में चित्त को एकाग्रकर अव्यय, अक्षय, परकल और शुभ ओंकार रूप दीपक को निरन्तर ध्याते हैं, उन्हें भी बिना समरस के निरुत्थान की प्राप्ति नहीं होती है।[1]

गोहाट में दीप्तिपुञ्ज का, सिन्धुजालन्धर स्थान में प्रलयकालीन अग्नि सदृश का, शृङ्गाट में (सर्वोपरिभाग में), ब्रह्मनाड़ी के अभ्यन्तर, कालान्त में, विद्युत् सदृश प्रभा वाले करोड़ों सूर्यों के समान भास्वान्, उससे उच्च जो 'सत्' जन विद्युत् के समान एकमात्र ज्योति का नित्य ध्यान करते हैं, उनको भी निरुत्थानदशा की प्राप्ति नहीं होती।

---

१. सि० सि० सं० ७।१-२

मन और पवन को एककर लिङ्ग से लेकर मेरुदण्ड तक ले जाते हुए ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर, वज्रोलि मुद्रा द्वारा बिन्दु को भ्रमर गुहा में स्थापित कर जो साधक सदा व्यापक नाद का श्रवण करते हैं वे केवल कष्ट ही पाते हैं और उनको भी परमपदरूप निरुत्थान दशा की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक् प्रकार से चालन और दोहन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को दीर्घ कर तालु के भीतर प्रवेश कराकर दशमद्वार में संयुक्त कर सहस्रार से स्रवित होने वाले षट् प्रकार के अमृतस्राव को ग्रहण करने वालों को भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती। मूलाधार से लेकर दोनों पश्चिम और पूर्व मार्गों को निरुद्ध कर अर्थात् इड़ा और पिङ्गला दोनों नाड़ियों को अवरुद्ध कर मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी कर समाधि हेतु नाना प्रकार के अभ्यास से जो नाड़ी कुहर में वायु के गतागत में लगे रहते हैं, वे भी दुःख रूप जल में सदा मग्न रहते हैं, किन्तु परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते। मूलाधार को सम्यक् प्रकार से दबाकर तत्रस्थ अग्नि के उद्दीपन से और अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर जब इन दोनों का परस्पर घर्षण होता है, तब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। और साधक उस प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति को मूर्धस्थान में स्थित पूर्णगिरि-संज्ञक सहस्रदलकमल रूप ब्रह्म स्थान पर ले जाकर ध्यान लगाते हैं और ध्यान की समाप्ति पर पुनः उस शक्ति को उसके स्थान पर वापस ले आते हैं तथा माया जाल से आबद्ध होकर सांसारिक क्रिया-कलापों में पुनः संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार के खण्ड-ज्ञानवान् साधकों को अखण्ड की प्राप्ति नहीं होती। तीनों बन्ध, नवचक्र-भेदन, मुद्राओं, कण्ठकूप का अवरोध, चन्द्र-सूर्य का सुषुम्ना में संयोग, शम-दमादि नियमों के पालन, नाद और बिन्दु का सहस्रार में स्थापित और मन द्वारा उन्मनी योग से युक्त योगी भी स्वात्मानन्द सुख से वञ्चित होकर कर्मरूप दुःखान्धकार के भागी ही रहते हैं। परमपद की प्राप्ति उन्हें नहीं होती। यमनियमादि अष्टाङ्गयोगमार्गानुपालन, कुण्डलिनी द्वारा मूला-धारादि चक्रभेदन, ऊर्ध्व, अधः, बाह्य और मध्य में रविकिरण सदृश सर्वतो-व्यापक आभा अथवा दृष्टि के अग्रभाग पर निर्मल जल समान नीलवर्णी आकाश की भावना कर जो साधक ध्यान लगाते हैं। वे अज्ञानी केवल कष्ट को ही भोगते हैं, स्वविश्रान्ति को कभी नहीं पाते। जो साधक आकाश, पराकाश और महाकाश धारणा को सिद्ध करने के उपरान्त प्रत्येक तत्त्वाकाश धारणा को लक्ष्य कर विधिबल से दृष्टि को निर्मल करते हैं तथा षट्कर्मादि हठयोग क्रियाओं द्वारा केवल शरीर को सन्तुलित करते और कराते रहते हैं,

वे केवल संसार-चक्र में भ्रमित और माया से सदा बाधित ही रहते हैं, निरुत्थान की प्राप्ति उन्हें कदापि नहीं होती। शङ्खक्षालनोपरान्त अर्थात् शङ्खनाड़ी को शोधित कर रसना द्वारा तालु, ओष्ठ एवं अमरीपान, खर्पर धारण, स्वबिन्दु का ग्रास और विलेपन करने वालों को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[1]

इस प्रकार अन्य मतों का निराकरण करते हुए कहा है कि घण्टा, ढोल, मृदङ्ग और महाभेरी निनाद सदृश अनाहत नाद का जो साधक स्वपिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में सम्यक् तथा निरन्तर श्रवण करते हैं उन्हीं को सिद्धपद की प्राप्ति होती है और उन्हीं को परमपद प्राप्त होता है।[2] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि विषयासक्त मन बन्धन और निर्विषयक मन मुक्ति का हेतु होता है। अतः समस्त प्रपञ्च चित्त के ही विषय हैं। यदि चित्त निराश्रय हो जाए तो मन लय योग्य बन जाता है और लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास आवश्यक है चूंकि मन लय का कारण 'अहम्' ही है। अनाहत शब्द की जो ध्वनि होती है उसके अन्दर ज्योति रहती है और उसी ज्योति में मन की विद्यमानता है। इसी मन से इस जगत् की तीन स्थतियों का कर्म सम्पादित होता है। उस मन का जिसमें विलय होता है, उसी को विष्णु का परमपद जानना चाहिए। इस परमपद में मन के विलय से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि के अनन्तर सब भेदों का अभाव हो जाता है।[3]

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि वैराग्य अमृतरूप पल्लव से (वैराग्य भाव से) सलिल, कन्द, फूल, मूल को भोगकर जो वनों अथवा देशदेशान्तरों में रमण करता है तथा स्थिर निश्चय से रात्रिन्दिवा परमतत्त्व का दर्शन करता है वह, समस्त जागतिक भावों को त्यागकर एकमात्र और निर्मल आत्मपद को प्राप्त करता है।[4]

इस प्रकार इस अन्तिम अध्याय में विभिन्न दर्शनों और अनेक साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों का निरास कर अपने मत का प्रतिपादन किया

---

१. सि० सि० सं०, ७।४-१२

२. वही, ७।१३

३. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।१-६

४. सि० सि० सं०, ७।१४

है । सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय वस्तु का पर्यालोचन कर यही तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि गुरु की असीम कृपा के फलस्वरूप चित्तविश्रान्त हो जाता है । तदनन्तर आविर्भाव होता है परमानन्द ज्योति का । शक्ति के प्रकाश से पिण्ड सिद्धि । स्वपिण्ड, ब्रह्माण्ड और शक्ति का परमपद से एकत्व स्थापन । यही है समरसीकरण और इसकी निरन्तरता से प्राप्त होती है आत्यन्तिक निरुत्थान दशा । डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार "नाथ पंथ का आदर्श है—पहले पिण्ड सिद्धि द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना और तत्पश्चात् समरसीकरण द्वारा परामुक्ति"[1]

१. महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथकविराज-प्रस्तावना, गोरख-दर्शन, पृ० ५

उपसंहार

उपर्युक्त सात उपदेशों में निरूपित सिद्धमत का परमतात्पर्य न तो अद्वैत-वेदान्त के निरुपाधिक-ब्रह्म सदृश विशुद्ध ज्ञान में है और न ही द्वैत-वेदान्तियों के सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म की अधीनता में ही इसकी शक्ति निहित है। सांख्यों के समान ये किसी ऐसे अव्यक्त तत्त्व में भी आस्था नहीं रखते जिसका परिणाम यह जगत् है, अपितु अलुप्तशक्तिमान् परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है।

चन्द्र-चन्द्रिका सदृश शिव-शक्ति एक दूसरे में निहित हैं। शक्तिरहित शिव, शव और शिव रहित शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ तथा ज्ञान-प्रधान होने के साथ-साथ शिव क्रिया-प्रधान और जगत् चेतन-शिव से अभिन्न चिद्रूपाशक्ति का ही प्रसार और सङ्कोच है। प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव और इस प्रकार विश्वोत्तीर्ण ही विश्वमय है। अवरोहण में शिव ही जीवत्व को प्राप्त करते हैं और महाशक्ति कुण्डलिनी रूप में।

द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के इस सिद्धान्त में समरसता ही अद्वय है, जिसकी अनुभूति गुरु द्वारा शक्तिपातजन्य स्वविश्रान्ति के अनन्तर ही सम्भव है। व्यष्टिपिण्ड को समष्टिपिण्ड से एकीकृत कर क्रमशः शक्ति और परमपद में विलीन करना पड़ता है। प्रकाशात्मा शिव की विमर्शशक्ति ही शिव की प्रकाशिका बन जाती है। परमपद के साथ सामरस्य स्थिति और इसी के व्युत्थान का अभाव है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा अर्थात् शब्दब्रह्म से अतीत स्थिति। यही है शवारूढा, चिद्रूपा, जगत्व्यामोहिनी, महामाया, महाकाली का नृत्य शिव के वक्षःस्थल पर।

——:o:——

सन्दर्भग्रन्थसूची

१. अपरोक्षानुभूति—आदिशङ्कराचार्य, सम्पादक– पं० मनोहरलाल शर्मा, प्रकाशक – श्री मनोहरलाल शर्मा, १६२, चित्तरंजन एवेन्यू—कलकत्ता-७, सम्वत्—२०२१

२. अमरौघ-प्रबोध – श्रीमद्गोरक्षनाथ विरचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स ऑव दि नाथयोगीज
सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियन्टल बुक हाउस, पूना, १९५४

३. अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु, योग-उपनिषदः—श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचित-व्याख्यायुताः, आ० महादेवशास्त्रिणा संपादिताः, अड्यार—पुस्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च, १९२०

४. ईशादिदशोपनिषदः—शाङ्करभाष्यसमेतम्, प्रकाशक — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४

५. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

६. एक सौ आठ उपनिषद्—सम्पादक – पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति-संस्थान, ख्वाज़ा कुतुब, वेद नगर, बरेली—१९७८

७. उपनिषत्सङ्ग्रहः—सम्पादक—पं० जगदीश लाल शास्त्री
प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली—१९८०

८. ऋग्वेद – म० म० श्री दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक – वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, भारत मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि० वरसाड), गुजरात राज्य, सन्-१९७८

९. कठोपनिषद्—ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

१०. कल्याणाङ्क—सन्त वाणी अङ्क. गीता प्रेस, गोरखपुर, सन्-१९५५

११. कल्याणाङ्क – श्री हरिभक्तिविलास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५८

१२. काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त—डॉ० कैलाशपति मिश्र—अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी-१९८२

१३. गणकारिका – आचार्य-भासर्वज्ञविरचित, सम्पादक– श्रीचिमनलाल, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा-१९६६

१४. गोरक्षनाथ (नाथ-संप्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) – डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सम्वत्-२०३३

१५. गोरक्षपद्धति—अनुवादक – पं० महीधर शर्मा, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास 'श्री वेंकटेश्वर' स्टीम प्रेस, ७वीं खेतवाड़ी, बम्बई, सम्वत्-२०२४

१६. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—सम्पादक—श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०), वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन्—१९७३

१७. गोरक्ष-संहिता प्रथम भाग—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०) प्रधान सम्पादक –डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, प्रकाशक—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७६

१८. गोरक्ष संहिता द्वितीय भाग—प्रधान सम्पादक– डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, वही, १९७७

१९. गोरक्ष-वचन-संग्रह –प्रकाशक—महंत अवेद्यनाथ, दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

२०. गोरख-दर्शन—लेखक, श्री अक्षय कुमार बनर्जी, सम्पादक—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, प्रकाशक - महंत अवेद्यनाथ दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सम्वत्-२०२८

२१. घेरण्ड-संहिता –सम्पादक-श्री श्रीशचन्द्र वसु, अड्यार, मद्रास-१९३३

२२. चक्रकौमुदी – श्री बदरीनाथ विरचित, सम्पादक –श्री जीवेश्वर झा, गङ्गानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद-१९७९

२३. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०, १९९३

२४. चैतन्य सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डॉ० नरेश चन्द्र बंसल, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा—१९८०

२५. छान्दोग्योपनिषद्—आर्य पुस्तकालय, अनारकली, लाहौर

२६ छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०—२०२३

२७. जीवन लक्ष्य और साधना—लेखक, श्री रामावतार प्रसाद विशारद, प्रकाशक—श्री रामावतार प्रसाद विशारद, डी० ३८।४, हौज़ कटोरा, वाराणसी

२८. ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थ माला (४) तन्त्रसंग्रह भाग २ सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, सं०—२०२६

२९. तत्त्व प्रकाशिका – ब्रह्मसूत्रभाष्य पर श्री जयतीर्थयति कृत टीका, सम्पादन—पूर्णप्रज्ञा रिसर्च इन्स्टिट्यूट—१९६७

३०. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण)—श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत [प्रकाश संस्कृतटीका तथा अभिनव स्नेह प्रपूरणी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार—श्री केदारनाथ मिश्र, प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१

३१. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन—श्री गोपीनाथ कविराज, अनुवादक—पं० हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७७

३२. तन्त्र और संत—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद-३ । १९७५

३३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९६३

३४. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त—म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ४ । १९७९

३५. तैत्तिरीयोपनिषद्—शाङ्करभाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९

३६. तोडलतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थमाला (४), तन्त्रसंग्रह-भाग (२), सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, सं० २०२६

३७. दत्तात्रेय योगशास्त्र—सम्पादक एवं व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योगसंस्थान-८।३, रूपनगर, दिल्ली-७, सन्—१९८२

३८. दशश्लोकी--श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक—श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सं०-२०२०

३९. द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन—डा० कृष्णकान्त चतुर्वेदी, प्रकाशक—विद्या प्रकाशन मन्दिर, १६८१, दरियागंज, दिल्ली-६। सन् १९७१

४०. नाथ-सम्प्रदाय—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी-५, सन् १९६६

४१. निर्वाण तन्त्र—सम्पादक - पं० रमादत्त शुक्ल, प्रकाशक—पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक कल्याण मन्दिर, प्रकाशन, प्रयाग-६

४२. पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित, अनुवादक—श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास, चंडक, अजमेर नगर, सम्वत्-२०१८

४३. पातञ्जल योगदर्शन—श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य कृत बंगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी रूपान्तर।
सम्पादक—श्री भगीरथ मिश्र, श्रीहरिकृष्ण अवस्थी, श्री ब्रजकिशोर मिश्र, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

४४ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—(क्षेमराजकृत), सम्पादक—श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९

४५. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्—श्री जयतीर्थकृत-तत्त्व प्रकाशिका टीका, श्री राघवेन्द्र-यतिकृत भावदीपा टिप्पणी, सम्पादक—आर० एस० पंचमुखी, प्रकाशक—राघवेन्द्र तीर्थ प्रतिष्ठान, कर्नाटक हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी धरवाद (Dharwad), १९८०

४६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य—श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दी-दीपिका सहित, प्रकाशन स्थान--गोविन्द-मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत्-२०३५

४७. ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तमुक्तावलिः—श्रीवनमालिविरचिता, प्रकाशित स्थान—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, सन्-१९४२

४८. भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा—डॉ० किशोरदास स्वामी, प्रकाशक, महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स प्रा० लि०, बम्बई, पुस्तक प्राप्ति स्थान—श्री साधुबेला उदासीन आश्रम, १८ ए० बी० देसाई रोड, बम्बई—१९८०

४९ भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, सप्तम संस्करण-१९६६

५० भारतीय संस्कृति और साधना—प्रथम खण्ड—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण-१९७३

५१ भारतीय संस्कृति और साधना—महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, द्वितीय खण्ड, द्वितीय संस्करण, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९७९

५२. महार्थमञ्जरी—योगतन्त्र ग्रन्थमाला भाग (५) सम्पादक—पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, खिस्ताब्दे-१९७२

५३. माण्डूक्योपनिषद्—ईशादिदशोपनिषदः- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-१९६४

५४. मुण्डकोपनिषद्—वही

५५. मायातन्त्रम्—तन्त्र संग्रह चतुर्थ भाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८१

५६. याज्ञवल्क्यस्मृतिः—निर्णयसागर, बम्बई।

५७. योगमार्तण्ड—सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना, सन् १९५४

५८. योगसारसंग्रह—श्रीविज्ञानभिक्षु प्रणीत, सम्पादिका—डॉ० पवन कुमारी, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, सन् १९८१

५९. लुप्तागम संग्रह—भाग १, सं०--श्री गोपीनाथ कविराज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सन्—१९७०। भाग-२ सं० पं० वज्रवल्लभ द्विवेदी, वही, सन्-१९८३

६०. वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि—(प्रस्थान रत्नाकर पर आधारित), लेखिका—स्नेहलता, प्रकाशक, श्री गुरु मन्दिर, सी-५५, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-११००२६, सन्-१९८०

६१. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० (श्रीमती) राधारानी सुखबाल, प्रकाशक—पं० रामप्रताप शास्त्री, चैरिटेबल ट्रस्ट, ३४, रामप्रताप शास्त्री, मार्ग, ब्यावर (राजस्थान)—१९८०

६२. वाक्यपदीयम् - श्रीभर्तृहरि विरचित, सम्पादक—श्री रामगोविन्द शुक्ल, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, सम्वत्-२०३७

६३. वाचस्पत्यम् —(बृहद् संस्कृताभिधानम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-१ श्री तारानाथ भट्टाचार्य १९६२

६४. विष्णु पुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-१९६३

६५. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम्— पं० ढुण्ढि-राजशास्त्रिणा संशोधितम्, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस-१९३२

६६. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्र-श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक— श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत् २०२०

६७. शाक्त दर्शनम्—पं० श्री चक्रेश्वर भट्टाचार्य दत्तै, गोहाटी-१९७०

६८. शारदातिलकम्—प्रकाशक—श्री जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़ ऑफिस, बनारस सिटी— १९३४

६९. शिव पुराण—सम्पादक—श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली—१९६८

७०. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक—हरिशङ्कर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, सन्-१९७५

७१. शिवयोगदीपिका—सदाशिव योगीश्वर विरचित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्कः-१३९ द्वितीयावृत्तिः

७२. शिव-संहिता—सम्पादक, डॉ० चमनलाल गौतम, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ० प्र०), १९८२

७३. शिव-संहिता—सम्पादक—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक— श्री सत्गुरु प्रकाशन, एस० एस० पी०, सन्-१९८१

७४. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक—ठाकुरदास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन् १९८०

७५. शैव-सिद्धान्त दर्शन—डॉ० कैलाशपति मिश्र, प्रकाशक—स्वामी राम-नरेश, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन २७, दीनदयाल नगर कालोनी नवाब गंज, वाराणसी-१०, सन् १९८२

७६. श्रीतन्त्रसार— सम्पादक, पं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १७, सन् १९१८

७७. श्री निम्बार्क वेदान्त— आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, प्रकाशक— श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत्-२०२०

७८. श्रीमदणुभाष्यम् - पाठकोपाह्वश्रीधरशर्मविरचितया, बालबोधिन्याख्य-टीकया समेतम्, भण्डारकर-प्राच्यविद्या-संशोधनमन्दिराधिकृतैः प्रकाशितम् सन् १९२६

७९. श्रीमद्देवीभागवत—सम्पादक, पं० रामतेजपाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, बनारस २०१२

८०. श्रीमद्भगवद्गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०-२०२९

८१. श्रीमद्भागवत भक्त मनोरञ्जनी—श्री भगवत् प्रसादाचार्य विरचिता, सम्पादक—श्रीकृष्णशङ्कर शास्त्री, वि० सं०-२०२५

८२. श्री शिवदृष्टिः—श्री सोमानन्दनाथरचिता, श्रीमदुत्पलदेवकृतवृत्त्युपेता, सम्पादक—पं० मधुसूदन शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि—काश्मीर, सन्-१९३४

८३. श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा—श्री कविराजशेखर सूर्यभट्टारक विरचिता, प्रकाशक—तलकाडु आगमिक कृष्णदीक्षित 'श्रीमनोन्मनीकृपा' बेंगलोर, १९५८

८४. षट्चक्रनिरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक—श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक - बी० घोष, आगमानुसन्धान समिति कलकत्ता-१९४१

८५. षट्चक्रनिरूपण—सम्पादक, श्री स्वामी हंसस्वरूप, प्रकाशक—विज्ञान मन्दिर (विज्ञान प्रेस), ऋषिकेश (देहरादून) उ० प्र०, सन्-१९८०

८६. षडाम्नायतन्त्रम्—तन्त्रसंग्रह चतुर्थभाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, सन्-१९८१

८७. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक—श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशक—श्री राम कृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश

८८. सर्वदर्शन-सङ्ग्रह—श्रीमन्माधवाचार्य, सम्पादक—डॉ० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१९६४

८९. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—गोरक्षनाथ, प्रकाशक—श्री १०८ पूर्णनाथ जी, संस्कृत टीकाकार—श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री । भाषाकार—पं० योगिभीष्मनाथ जी, संशोधक--पं० ज्ञानिराम शास्त्री वि० सं०—१९९६

९०. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—सम्पादक, श्री रामलाल श्रीवास्तव, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सं० २०३८
९१. सौन्दर्यलहरी (श्री शंकराचार्य विरचिता, श्रीलक्ष्मीधर व्याख्यासमलङ्कृता, भावोपनिषद्, श्रीभास्करराजभाष्य सहिता देवीपञ्चस्तरी च), सम्पादक—पं० एन० एन० गणपति, मैसूर-१९५३
९२. संस्कृत-हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, सन् १९६९
९३. हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका—सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८५

योग-उपनिषद्

९४. अद्वयतारकोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९८०
९५. अमृतनादोपनिषद्—वही।
९६. अवधूतोपनिषद्—वही
९७. क्षुरिकोपनिषद्—वही
९८. गर्भोपनिषद्—वही
९९. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही
१००. तेजोबिन्दूपनिषद्—योग-उपनिषद:—सम्पादक, अ० महादेव शास्त्री, अड्यार पुस्तकालय मद्रास, १९२०
१०१. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०२. दर्शनोपनिषद्—वही
१०३. ध्यानबिन्दूपनिषद्—वही
१०४. नादबिन्दूपनिषद्—वही
१०५. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०६. ब्रह्मविद्योपनिषद्—वही
१०७. ब्रह्मोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह, सम्पादक, प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास—दिल्ली, सन् १९८०
१०८. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०९. योगकुण्डल्युपनिषद्—योग-उपनिषद:, अड्यार, १९२०
११०. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
१११. योगतत्त्वोपनिषद्—वही

११२. योगराजोपनिषद्—उपनिषद्-संग्रह, मोतीलाल बनारसी दास-दिल्ली, सन् १९८०

११३. योगशिखोपनिषद्—योग-उपनिषदः, सम्पादक अ० महादेव शास्त्री, अड्यार, मद्रास-१९२०

११४. वराहोपनिषद्—वही

११५. शाण्डिल्योपनिषद्—वही

११६. हंसोपनिषद्—वही

117. Bhāskarī—Vol. I, A Commentary on the Iśvarapratyabhijñāvimarśini of Abhinava Gupta—Edited by K. A. Subramnia Iyer and Dr. K. C. Pandey, Allahabad—1983.

118. Haṭha-Yoga Pradipikā of Sh. Svātmārāma Svāmin, English Translation by Yogi Śrīnivāsa Iyangār, The Theosophical Publishing House, Adyar Madras, India. Third Edition – 1949.

119. Kāmakalāvilās of Puṇyā Nanda with Comm. Edited with Notes of Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstrī. Kashmir Series of Texts and Studies No. XII—1918.

120. Kāmakalāvilās by Puṇyānanda Natha with the Commentary of Natanānanda-Natha, Translated with commentary by Arthur Avalon (Sir John Woodroffe), Ganesh & Co. (Madras) Private Ltd. Madras-17, 1961

121. Parā Prāveshikā of Kṣhēmarāja—Edited with notes by Mahāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shārtrī, Kashmir Series of Texts and Studies. No.—XU. 1918.

122. Pāśupata Sūtram : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Translated with an Introduction on the History of Śaivism in India. Sh. Haripada chakraborti. (1970) Academic Publishers – II Panchanan Ghosh Lane Calcutta.

123. Pāśupata Sūtras : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Edited by Sh. R. Anantha Krishna Shastri, Published

by—The Oriental Manuscripts Library of the University of Travancore. Trivandrum—1940.

124. Philosophy of Gorakhnath with Gorakshavachan Sangraha by Sh. Akshaya Kumar Benerjea, Published by—Mahant Dig Vijai Nath Trust, Gorakhnath Temple, Gorakhpur—1962.

125. Ṣaṭtriṁśattattva-Sandoha (A Text of Trika Philosophy of Kashmir) with the Commentary of Rājānaka Ānanda Kavi, Translated into English with explanatory notes and Introduction by—Dr. Debabrata Sen Sharma, B.N. Chakravarty, University, Kurukshetra—1977.

126. Siddhānta Bindu—A Commentary on the Daśaślokī of Śaṁkarācārya : Edited with an Original Commentary by Mahāmahopādhyaya Vasudev Shastri Abhyankar, 1928. Second Edition by MM. K. V. Abhyankar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4, 1962.

127. Siddha-Siddhānta-Paddhati and other works of the Nāth Yogīs—by Smt. Kalyani Mallik. Poona Oriental book House, 330 A, Sadashiv Peth, Poona—First impression, 1954.

128. Sīva Svarodaya—Text with English Translation by Sh. Ram Kumar Rai—Prachya Prakashan, Varanasi. 1980.

129. Tantrā Loka of Abhinava Gupta with Comm. by Rājānaka Jayaratha—Edited with Notes by Pandit Madhusudan Kaul Shastri, Kashmir Series of Texts and Studies. No. XXIX—1921.

130. The Bṛhadāraṇyaka Upniṣad : with the Commentary of Śankarācārya, Translated by Swāmī Mādhavānanda. Published by Swami Yogeshwarananda Advaita Ashrama, Mayavati Almora, Himalayas—1950.

131 The Shiva Sūtra Vimarshinī being The Sūtras of Vasu Gupta with the Commentary called Vimarshinī by Kshemarāja—Kashmir Series of Texts and Studies Vol. I—1911.

132. The Siddhānta Ratna with Comm. of Baladeva Vidyābhūṣaṇa, Edited with Introduction Etc. by Sh. Gopinath Kaviraj –1927, Benares Saraswati Bhavana Texts No.(10).

133. The Spanda Sandoha of Kṣhēmarāja—Edited with Notes by Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstrī. Published under Sir Pratāp Singh Sāhib Bahādur—Jammu and Kashmir State—1917.

134. The Tantrā Loka of Abhinava Gupta : with Comm. by Rājānaka Jayaratha, Edited with notes by Mahāmahopādhyāya Pandit Mukunda Rām Shāstrī.
Printed at the Indian Press—1918.

135. Vedānta Darśanam—Vision of Vedānta—Sh. R. Karunakaran.
Sri Śankara Sanskrit Vidyapeetham, Edakkadom, Quilon, S. India—1980.

अनुक्रमणिका

आ

त

प

म

म

य

———

द्वितीय-पुष्प

श्रीः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

श्रीगणपतिचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

यत् पादाब्जरजःस्पर्शादरजस्कं मनो भवेत् ।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम् ॥१॥

अर्था ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः ।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णपुष्टये ॥२॥

पिण्डसम्भवविचारसंविदाधारतत्पररसैक्यभूमयः ।

तीक्ष्णधीभिरवधूत इत्ययं दर्शितः खलु निरूप्य संग्रहः॥३॥
कार्य्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।

अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥४॥

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक् ।
निजा शक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याद्भा परोत्थिता ॥५॥

ततः स्पन्दनमात्रा स्यादपरेति स्मृता ततः ।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः ॥६॥

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा ।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्च गुणाः स्मृताः ॥७॥

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता ।
अव्यक्ततेति पञ्च स्युः परायां सम्मता गुणाः ॥८॥

स्फुरत्ता स्फारतायुक्ता स्फुटता स्फोटता तथा ।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः ॥९॥

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम् ।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्माया गुणपञ्चकम् ॥१०॥

पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता ।
प्रत्यङ्मुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः ॥११॥

शक्तिपञ्चकसम्भूतपञ्चविंशतिसंश्रयात् ।
परपिण्डसमुत्पत्तिः सिद्धान्तज्ञैः समीरिता ॥१२॥

उक्तं च—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥१३॥

तत्रोऽस्तितापूर्वधर्मार्चिर्मात्रं स्यादपरं परम् ।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥१४॥

स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम् ।
तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम् ॥१५॥

अकलत्वासंशयत्वानुमतत्वान्यपारता ।
अमरत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्चापरे पदे ॥१६॥

निःकलत्वमलोलत्वमसंख्येयाक्षयत्वके ।
अभिन्नतेति पञ्चोक्ता गुणाः स्युः परमे पदे ॥१७॥

नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पञ्च गुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥१८॥

सहजत्वं सामरस्यं सत्यत्वं सावधानता ।
स्वर्गगत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च निरञ्जने ॥१९॥

अभयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमनाश्यता ।
अशोष्यत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च परात्मनि ॥२०॥

तत्त्वपञ्चकमाख्यातमाद्यपिण्डस्य पण्डितैः ।
एवं तथा गुणाः प्रोक्ताः पञ्चविंशतिसंख्यकाः ॥२१॥

सगुणैः समवेतैस्तैरादिपिण्डः समुद्भवेत् ।
आदेस्तु परमानन्दः प्रबोधः स्यात्ततस्ततः ॥२२॥

भवेच्चिदुदयस्तस्मात् प्रकाशः सोऽहमित्यतः ।
उदयः स्यात्तथोल्लासोऽवभासोऽथ विकाशनम् ॥२३॥

प्रभेति स्युर्गुणाः पञ्च प्रबोधस्य प्रकीर्त्तिताः ।
निष्पन्दहर्षाबुन्मादः स्पन्दो नित्यसुखं तथा ॥२४॥

इति पञ्च गुणाः प्रोक्ताः परमानन्दसंज्ञके ।
सद्भावोऽत्र विचारश्च कर्तृत्वं ज्ञातृता तथा ॥२५॥

स्वातन्त्र्यमिति पञ्चैव गुणाश्चिदुदयस्य च ।
निर्विकारत्वनैष्कल्ये सद्बोधः समता तथा ॥२६॥

विश्रान्तिरेवं संप्रोक्तं प्रकाशगुणपञ्चकम् ।
अहन्ता खण्डितैश्वर्य्यं स्वानुभूतिः समर्थता ॥२७॥

सर्वज्ञतेति पञ्चोक्ताः सोऽहम्भावगुणा इमे ।
इत्याद्यपिण्डः संपृक्तः तत्त्वपञ्चकगैर्गुणैः ॥२८॥

पञ्चविंशतिसंख्याकैरिमैरेव समुत्थितः ।
आद्यादभून्महाकाशं ततो जातो महानिलः ॥२९॥

तस्मात्तेजो महत्तस्मान्महत् कं तन् महा धरा ।
अवकाशं तथा छिद्रमस्पृश्यत्वं तथा रवः ॥३०॥

नीलवर्ण इति प्रोक्ता गुणाः पञ्च महाम्बरे ।
सञ्चारश्चालनं स्पन्दः शोषणं धूम्रवर्णता ॥३१॥

इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावायौ मनीषिभिः ।
दाहकत्वं पावकत्वं सूक्ष्मत्वं रूपभासिता ॥३२॥

रक्तवर्णत्वमेवं स्युः गुणाः पञ्च महानिले ।

प्रवाहाप्यायनरसद्रवाश्च श्वेतवर्णता ।
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावारिणि पण्डितैः ॥३३॥

स्थूलत्वनानाकृतिते काठिन्यं गन्धपीतते ।
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ता महामह्यां महर्षिभिः ॥३४॥

इति साकारपिण्डस्य तत्त्वपञ्चकमिष्यते ।
पञ्चविंशतिसंख्याका गुणास्तैर्मिलितैः शिवः ॥३५॥

शिवाद्भैरव एतस्माच्छ्रीकण्ठोऽतः सदाशिवः ।
ईश्वरोऽस्माद्रुद्र आसीत्ततो विष्णुस्ततो विधिः ॥३६॥

महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
ब्रह्मणः प्राक्कृतं दृष्ट्वा नरनार्य्यात्मपिण्डकम् ॥३७॥

पञ्चपञ्चात्मकं तच्च शरीरमिदमुच्यते ।
अस्थित्वङ्मांसलोमानि नाड्यः पृथ्व्यंशका इमे ॥३८॥

लालामूत्रे असृक्स्वेदौ शुक्रमित्यंशका अपाम् ।
क्षुधातृषालस्यनिद्राकान्तयोंऽशा विभावसोः ॥३९॥

धावनं चलनं रोधः प्रसाराकुञ्चने तथा ।
वाय्वंशा उदिता एते पञ्च सिद्धान्तवेदिभिः ॥४०॥

रागद्वेषौ भयं लज्जा मोह एवं नभोगुणाः ॥
इति प्राकृतपिण्डे स्युः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ॥४१॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यथ ।
सिद्धसिद्धान्तगैरुक्तमन्तःकरणपञ्चकम् ॥४२॥

संकल्पश्च विकल्पश्च जडता मूर्छना तथा ।
मननं चेति संप्रोक्ता गुणाः स्युः पञ्च मानसाः ॥४३॥

विवेकवैराग्यपरा प्रशान्तिक्षमा गुणा बुद्धिगता भवन्ति ।
मानो ममत्वं सुखदुःखमोहा गुणा इमेहंकृतिवर्तिनःस्युः॥४४॥

मतिर्धृतिः संस्मृतिरुत्कृतिश्च स्वीकार इत्थं खलु पञ्च चैताः ।
चैतन्यनिष्ठास्तु विमर्षहर्षौ धैर्यं गुणाश्चिन्तननिःस्पृहत्वे ॥४५॥

अन्तःकरणधर्मा ये त एते संप्रदर्शिताः ।
सत्त्वं रजस्तमः कालो जीवश्च कुलपञ्चकम् ॥४६॥

दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेत्थं सत्त्वगा गुणाः ।
दानं भोगश्च शृङ्गारः स्वार्थादाने रजोगुणाः ॥४७॥

मोहप्रमादौ निद्रा च हिंसाक्रौर्ये तमोगुणाः ।
विवादः कलहः शोको बन्धो वञ्चनमेव च ॥४८॥

एवं पञ्च गुणाः प्रोक्ताः कालस्य मुनिपुङ्गवैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्य्यकतुरीयाऽतीतसंज्ञा गुणाः ॥४९॥

जीवस्था इह कीर्तिता इति भवेज्जीवेऽपि तत्पञ्चकम् ।
इच्छा कर्म विमोहिनी प्रकृतियुक् वाक् चेति पञ्चाऽपि ते ॥५०॥

व्यक्ताख्याधरशक्तिपञ्चकगुणाः सन्तीति सिद्धान्तवाक् ।
उन्मेषो वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टेच्छिका गुणाः ॥५१॥

स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्य्यनिश्चयकारिणी क्रिया ॥
मदमात्सर्यकपटकर्त्तव्यासत्यसंज्ञकाः ॥५२॥

प्राकृता मायिका आशा तृष्णा काङ्क्षा स्पृहा मृषा ।
परास्ति पश्यन्त्यथ मध्यमा च वैखर्य्यपीष्टाक्षरमातृका च ।
एते गुणा वाचि भवन्ति पञ्च प्रपञ्चनिर्मुक्तजनोपदिष्टाः ॥५३॥

पञ्चविंशतिरेते स्युर्व्यक्तिशक्तिगुणा इह ।
कालकर्माग्निचन्द्रार्काः प्रत्यक्षकृतिहेतवः ॥५४॥

इति प्रीतिलीलातुरत्वाभिलाषा
गुणाः पञ्च कामे वसन्तीत्यणन्ति ।
शुभं चाशुभं कीर्त्यकीर्त्ती तथेच्छा-
गताः कर्मणि ब्रह्मनिष्ठास्तथा ते ॥५५॥

उल्लोलकल्लोलसमुच्चलत्त्वप्रोन्मादवत्यूर्मिविशेषवत्यः ।
विलेपयन्ती लहरीविलोला विलेलिहासप्रसरा प्रवृत्तिः ॥५६॥

स्रवन्तिका नामवती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नेति कलाः सुधांशोः ।
उदीरिता षोडश तस्य चान्या न वृत्तिसंज्ञामृतनाम तस्याः ॥५७॥

तपिनी ग्रासिनी क्रूरा क्रुञ्चनी शोषणी तथा ।
बोधिनी घस्मरार्काषिण्यर्थसन्तुष्टिवर्द्धिनी ॥५८॥

ऊर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावत्यंशुमालिनः ।
इमा कला द्वादश स्युरन्याप्यस्ति प्रकाशिका ॥५९॥

बीजिनी दीपिका ज्वाला विस्फुलिङ्गा प्रचण्डिका ।
पाचिका रौद्रिका दाहा रोचिनी शोषिणीति ताः ॥६०॥

कला दश भवन्त्यग्नेर्ज्योतिर्निजकला परा ।
इति प्रत्यक्षकारिणो गुणाः स्युः सिद्धसम्मताः ॥६१॥

द्वाराणि द्वादशोक्तानि नाडीनां यानि तान्यथ ।
दर्श्यन्ते सिद्धसिद्धान्तनिर्णीतानि यथामतम् ॥६२॥

इडापिङ्गले नासिकारन्ध्रगे द्व
सुषुम्णा भवेत्तालुमूलेजरन्ध्रम् ।
समे तावधीकृत्य गान्धारिकाख्या
तथा हस्तिजिह्वा श्रवोयुग्मके स्यात् ॥६३॥

भवेच्छङ्खिनी लिङ्गवक्त्रादिदण्डा-
ध्वनापद्मजद्वारमाप्ताथ पूषा ।
तथालम्बुषा चक्षुषोः सन्तगास्या-
ग्रगा स्यात्पयस्विन्यपाने कुहूश्च ॥६४॥

दश नाड्यो दशद्वारवर्त्तिन्य इति कीर्त्तिताः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्योऽन्या रोमकूपगाः ॥६५॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानो नाभिगामी समानकः ।
उदानः कण्ठनिलयो व्यानस्तालुसमाश्रयः ॥६६॥

सर्वाङ्गव्यापको नागः कूर्मोऽक्षिण कृकलो नसि।
देवदत्तो मुखाग्रस्थः कण्ठाधः स्याद्धनञ्जयः ॥६७॥

आहाराकाङ्क्षकः पूर्वो द्वितीयः स्तम्भकुम्भकः।
तृतीये दीपनं पाकस्तुर्ये नाड़ीविशोधनम् ॥६८॥

आप्यायनं रुचिश्चैव पञ्चमेऽशनजल्पने।
मोडनोच्चाटने षष्ठे मेषोन्मेषौ च सप्तमे ॥७६॥

क्षुदुद्गारावष्टमे स्तां जृम्भणं नवमे भवेत्।
दशमे नादघोषौ तु स्युरेते दश वायवः ॥७०॥

अवलोकनपिण्डस्य समुत्पत्तिरितीरिता।
नरनारीरूपमाहुरिदमेव मुनीश्वराः ॥७१॥

गर्भपिण्डसमुत्पत्तिमथ वक्ष्यामि सम्मताम्।
ऋतौ स्त्रीतरयोर्योगे जीवो बिन्दुरजाश्रयात् ॥७२॥

पूर्वस्मिन् कलिलं ततो रविदिनैः स्याद् बुद्बुदाभं ततः।
पक्षाद्गोलकसन्निभं कठिनताभाङ्मासमात्राद्भवेत् ॥
तद्द्वन्द्वेन शिरस्त्रिभिः करपदाद्यं स्याच्चतुर्भिः श्रुती।
नेत्रे घ्राणगुदास्यमेढ्रकमथो पृष्ठोदरं पञ्चभिः ॥७३॥

षड्भिर्गात्ररुहाणि सप्तभिरथो स्याच्चेतनालक्षणा-
न्यष्टाभिर्यदि जायते सुविरहस्तत्तत्त्वलाभस्ततः ॥
मासेज्ञो दशमेऽथ योनिसमयाच्छुक्राधिकत्वे पुमान्।
शुक्रस्याधिकतान्वये तु वनिता साम्ये तयोः क्लीबकः ॥७४॥

अन्योन्यचित्तप्रतिकूलभावात्
स्त्रीपुंसयोर्वामनकुब्जखञ्जाः।
अन्धादयोङ्गाविनिपीडना स्या-
द्रेतोविभावात्सुतयुग्मता च ॥७५॥

शुक्रं सार्द्धपलत्रयं निगदितं रक्तं पलाविंशतिः।
तस्यार्द्धं खलु मेदसोरविपला मज्जा शतं मांसकम् ॥

पित्तं रावणवक्त्रसम्मितपलं षड्युत्तरा स्याच्छत-
त्रय्यस्थामथ सन्धयस्तदुपमाः सार्द्धत्रिकोटचः कचाः ॥७६॥

मज्जास्थिमेदांसि सशुक्रकारिण
भवन्ति वीर्य्याज्जनकस्य पुत्रे ।
मांसासृजी गात्ररुहारिण वातः
पित्तं कफस्तद्द्वययोगतः स्यात् ॥७७॥

दशधातुमयो देह इत्थं भवति निश्चितः ।
गर्भपिण्डोत्पत्तिरेवं सिद्धसिद्धान्तसम्मता ॥७८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे षड्विधपिण्डोत्पत्तिः प्रथमोपदेशः ॥

द्वितीयोपदेशः

नव चक्राणि देहेस्मिन् भवन्तीति विनिश्चितम् ।
तेषां विभागो ज्ञातव्य आधारादिक्रमादथ ॥१॥

ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलकाकृति ।
आधारे तदधः कन्दे ध्यायेच्छक्तिं हुताशभाम् ॥२॥

कामरूपाभिधं पीठं सर्वकामप्रदायि तत् ।
तदत्र भवतीत्युक्तं सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥३॥

स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं यच्चतुर्दलम् ।
पद्मं तत्र प्रवालाभं लिङ्गं ध्यायेत् पराङ्मुखम् ॥४॥

तत्रैवोड्यानपीठं स्याज्जगदाकर्षसिद्धिदम् ।
भवतीति महासिद्धाः सिद्धान्तं चक्रिरे पुरा ॥५॥

तृतीये नाभिचक्रे तु पञ्चावर्तादिसन्निभे ।
ध्यायेत् कुण्डलिकाकारे बालार्कद्युतिकुण्डलीम् ॥६॥

तुर्यं हृदयचक्रं यत्तत्राष्टदलवारिजे ।
लिङ्गं ध्यायेत् कर्णिकान्तर्ज्योतिर्मत्परमोज्ज्वलम् ॥७॥

सैव हंसकला ख्याता सर्वेन्द्रियवशङ्करी ।
योगिभिर्विधिवद् ज्ञाता सर्वलोकान् वशं नयेत् ॥८॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं तु चतुरङ्गुलबिन्दुभम् ।
तद्वामदक्षचन्द्रार्कनाडचोर्ध्यायेत् सुषुम्णिकाम् ॥९॥

अनाहतकला सैव विख्याता योगिनां मते ।
अनाहतमहासिद्धिविश्राणनधुरन्धरा ॥१०॥

तालुचक्रं षष्ठमत्र सुधाधाराप्रवाहभृत् ।
घण्टिका राजदन्तान्तर्ध्यायेत् शून्यं मनोलये ॥११॥

नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम् ।
ध्यायेद्गोक्षीरभं तत्र हंसं तत्तन्मयो भवेत् ॥१२॥

नवचक्रविचारोऽयं कथितः परमार्थदः ।
अथाहं षोडशाधारान् वक्ष्यामि कृपया गुरोः ॥१३॥

पादाङ्गुष्ठात्परं ध्यायेत्तेजस्वत्प्रथमं यदि ।
दृष्टिः स्थैर्य्यं समायाति नैरन्तर्य्येण निर्मला ॥१४॥

मूलसूत्रं समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना ।
यदा तदानीमाधारो द्वितीयोऽग्निप्रदीपनः ॥१५॥

विकाससङ्कोचनतो गुदमाकुञ्चयेद्यदा ।
तृतीयाधार उक्तस्तदपानस्थैर्य्यकारकः ॥१६॥

सङ्कोचनेन मणिकस्य परत्र तुर्य्ये
दण्डाध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम् ।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्यां
भृङ्गस्य चेद्दृढिदरे (?)खलु बिन्दुबन्धः ॥१७॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ।
ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः ॥१८॥

नाड्याधारे पञ्चमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम् ।
जारणं भवति क्षिप्रं योगिनां मलमूत्रयोः ॥१९॥

नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारणक्रियाम् ।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदयमुपैत्यलम् ॥२०॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायुं निरोधयेत् ।
यदा तदैवाम्बुरुहं विकासमधिगच्छति ॥२१॥

कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठं चिबुकेन निपीडयेत् ।
इडापिङ्गलयोर्वायुस्थैर्य्यभावस्तदा भवेत् ॥२२॥

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वां सङ्घट्टयेत् क्रमात् ।
सुधाकलापरिस्त्रावस्तदा स्यादमरत्वदः ॥२३॥

जिह्वां चालनदोहाभ्यां दीर्घीकृत्य निवेशयेत् ।
दशमाधारतालवन्तः काष्ठा भवति सा परा ॥२४॥

एकादशे रसाधारे जिह्वाग्रमथनात्स्फुटम् ।
परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत् ॥२५॥

द्वादशोर्द्धरदाधारे जिह्वाग्रं ग्रन्थयेद् दृढम् ।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम् ॥२६॥

त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तितः ।
तदग्रं लक्षयेन्नित्यं मनो भवति सुस्थिरम् ॥२७॥

कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूलं चतुर्दशम् ।
तत्र दृष्टिनिबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम् ॥२८॥

भ्रुवाधारं पञ्चदशं पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा।
पुरोऽवलोकयेच्छ्रीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम् ॥२६॥

षोडशं नयनाधारमूर्द्धभागे प्रचालयेत् ।
अङ्गुल्या चेदपाङ्गे स्वे ज्योतिःपुञ्जं प्रपश्यति ॥३०॥

सदा कृन्तनमेवाऽथ लोकयेन्निर्मलाशयः ।
इत्युक्ताः षोडशाऽऽधारा लक्ष्यत्रयमथोच्यते ॥३१॥

मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं सितप्रभाम् ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्यायेत् तन्मध्ये विद्युदुज्ज्वलाम् ॥३२॥

मूर्ति तां लक्षयेन्नित्यं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सर्वसिद्धिप्रदाने सा कल्पवल्लीयते सताम् ॥३३॥

ललाटोर्ध्वेऽथवा ताराकारं गुह्याटमण्डलम् ।
लक्षयेद्वालिकुहरे रक्तं मधुकराकृतिम् ॥३४॥

तर्ज्जनीमुखनिरुद्धकर्णको योऽथवा भवति पूरुषोत्तमः ।
मूर्द्धमध्यगर्तसिहहाटके तस्य नाद उदयेत घुंध्विति ॥३५॥

चक्षुर्मध्ये पुत्तलीसन्निभं वा
नीलज्योतीरूपमुद्यत् प्रकाशम् ॥
नैरन्तर्य्याल्लक्षयेदेतदुक्तं
प्राज्ञैरन्तर्लक्ष्यमलब्धचित्तैः ॥३६॥

एकाङ्गुलचतुर्मार्गे नासाग्राद्बहिरम्बरम् ।
श्यामलज्योतिरुपमं नैरन्तर्य्येण लक्षयेत् ॥३७॥

नासाग्रतो बहिर्व्यापि सततं द्वादशाङ्गुले ।
लक्षयेद्धरितालाभं पुरः पार्थिवमण्डलम् ॥३८॥

वायुतत्त्वं धूम्रवर्णं नासाग्रात् षोडशाङ्गुलम् ।
लक्षयेत्तन्मुखं वा खं स्थिरदृग्गोकुलेक्षणे ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे निर्मलीकरणम् ॥

ऊर्द्धदृष्ट्यान्तरालम्बे लक्षयेत्सिद्धवर्त्मगः ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते तदाऽकस्मादितस्ततः ॥४०॥

अथवा यत्र कुत्रापि व्योमैव परिलक्षयेत् ।
आलम्बते स्थिरत्वं दृक् योगिनोऽभ्यासतः सदा ॥४१॥

द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टादशाङ्गुलकावधि ।
शिरस्यूर्द्धेऽथवा पश्येज्ज्योतिःपुञ्जं विमुक्तिदम् ॥४२॥

दृष्ट्यग्रे तप्तभर्माभां लक्षयेद्वा वसुन्धराम् ।
दृष्टिः स्थिरत्वमेतीति बहिर्लक्ष्यमनेकधा ॥४३॥

सितं पीतं रक्तं हरितमथवा श्यामलनिभं
प्रदीपाकारं वाधिगततुलनं धूमशिखया ।
स्फुरज्ज्योतीरूपं हिमकिरणबिम्बाकृति तथा
दिनेशाकारं वा नवयवकमीक्षेत मनसा ॥४४॥

मध्यलक्ष्यमिदं प्रोक्तमिति लक्ष्यत्रयोरिता ।
सिद्धसिद्धान्तविज्ञातं व्योमपञ्चकमुच्यते ॥४५॥

बाह्याभ्यन्तरदेशमुज्ज्वलतमं शून्यं खमालोकयेत्
ध्वान्ताकारधरं परं खमथवा कल्पान्तकालाग्निभम् ।
आहोस्विद् गमनं महत्पदमुत प्रद्योतरूपं नभ-
स्तत्त्वाद्यं दिनरत्नकोटिरुचि वा सूर्य्याम्बरं सन्ततम् ॥४६॥

व्योमपञ्चकविलोकनात् पुमान् जायते कुलिशतुल्यविग्रहः ।
इत्यवेत्य विमलेन चेतसा व्योमपञ्चकमिदं प्रपञ्चितम् ॥४७॥

नवाङ्गं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
समानं यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥४८॥

इति प्राचीनोक्तिः ॥

योगाङ्गानि भवन्त्यष्टौ यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारः स्यादथ धारणा ॥४९॥

ध्यानं समाधिरेतेषां पृथगर्थानथ ब्रुवे ।
द्वन्द्वदुःखादिसहनं यम इत्यभिधीयते ॥५०॥

वृत्तीनां मानसीनां हि यैः स्यान्नियमनं स्फुटम् ।
नियमास्ते प्रकीर्त्यन्ते सन्तोषप्रमुखा बुधैः ॥५१॥

स्वस्वरूपे सदासन्नभाव आसनमुच्यते ।
सुखस्वस्थाम्बुजादीनां भेदात्तद् बहुधा मतम् ॥५२॥

प्राणानां स्थैर्यहेतुर्यः स प्राणायाम इष्यते ।
निःश्वासतारे चक्राद्यैः सम्पुटीकरणं यथा ॥५३॥

चेतोवृत्तितरङ्गाणां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारः स उत्पन्नो विकारग्रासकारकः ॥५४॥

उत्पन्नोत्पन्नवृत्तीनां निर्विकारे हि धारणम् ।
धारणेति समाख्याता नियम्यैकाऽवधारणा ॥५५॥

परमात्माऽस्ति निर्द्वन्द्वः स्वात्मारामोऽत्र यद्भवेत् ।
यत्तत्स्वरूपमित्यन्तर्वृत्तिर्ध्यानमिति स्मृतम् ॥५६॥

सर्वतत्त्वसमावस्था समाधिरिति कीर्तितः ।
निरुद्यमत्वानायासावेकशीलैकभावते ॥५७॥

निर्विकल्पत्वमेते ते सन्ति भेदाः समाधिजाः ।
अष्टाङ्गयोग इत्येष निरूपित इह स्फुटम् ॥५८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डविचारे द्वितीयोपदेशः ॥

——:०:— —

अथ तृतीयोपदेशः

पिण्डसम्वित्तिरधुना कथ्यते योगिसम्मता ।
यस्याः समाश्रयाद् भाति तत्त्वज्ञानमदूरतः ॥१॥
ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसम्वित्तिरुच्यते ॥२॥

कूर्मः पादतलेऽङ्गुष्ठतले पातालमुच्यते ।
तलातलं पुरोऽङ्गुष्ठात्पादपृष्ठे महातलम् ॥३॥

गुल्फे रसातलं प्रोक्तं जङ्घायां सुतलं मतम् ।
वितलं जानुदेशे स्यादतलं मूल इष्यते ॥४॥

ऊद्र्ध्वः स्वभावो यः पिण्डे स स्यात्कालाग्निरुद्रकः ।
पातालपदवाच्यानां सत्त्वानामधिदेवता ॥५॥

भूरादिलोकत्रितयं गुह्ये लिङ्गाग्रमूलयोः ।
तत्राधिदेवता शक्रः पिण्डेऽथत(?)विनायकः ॥६॥

वण्डाग्रे दण्डकुहरे महर्लोको जनस्तथा ।
तपो दण्डतले सत्यं मूले योमान(?)एतदीट् ॥७॥

अनेकव्यापकः पिण्डे धर्मोऽयमहसो(?)च्युतः ।
स्वर्लोकभूतकुक्षेः स देवतात्वेन सम्मतः ॥८॥

हृदये रुद्रलोकोऽस्ति रुद्रस्तत्राधिदेवता ।
उग्रः स्वमावो यः पिण्डे तत्स्वरूपः स सम्मतः ॥९॥
वक्षसोऽश्वरलोकोऽस्ति तत्राधीश्वर ईश्वरः ।
पिण्डे तृप्तिस्वरूपेण तिष्ठतीति मतं सताम् ॥१०॥

कण्ठं सदाशिवनिवासमुदाहरन्ति
तत्राधिनायकतया स सदाशिवोऽस्ति ।
पिण्डे जितेन्द्रियगणैरनुभूयमानः
सौम्यस्वभाव इति यः प्रथितप्रतिष्ठः ॥११॥

श्रीकण्ठलोकः खलु कण्ठमध्ये श्रीकण्ठ एवात्र भवेदधीशः ।
सनातनत्वात्मकतां दधानः पिण्डान्तरे वाविकृताधिवासः ॥

लम्बिकामूलके भैरवोऽधीश्वर-
स्तत्र यत्कीर्त्तितस्तस्य लोको बुधैः ।
प्राणिनां सर्वदा सर्वकार्य्योद्यमो
भैरवाख्याधरः पिण्डमध्ये मतः ॥१३॥

तालुद्वारे शैवलोकः प्रसिद्धः
तत्राधीशः स्याच्छिवो विश्वबन्द्यः ।
विद्वद्वर्य्यैर्योगशान्तिः प्रतीता
तद्रूपोऽसौ पिण्डमध्ये विभाति ॥१४॥

तालोरभ्यन्तरे भाति सिद्धलोकोऽत्र देवता ।
महासिद्धः प्रबोधात्मा पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१५॥

ललाटेऽनादिलोकोऽस्ति तत्रानादिरधीश्वरः ।
पराहन्तास्वरूपेण पिण्डमध्येऽवतिष्ठते ॥१६॥

शृङ्गाटे कुललोकोऽस्ति तत्र देवः कुलेश्वरः ।
पिण्डमध्ये सदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥१७॥

ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्राधिदेवता ।
परब्रह्माभिधा पिण्डे परिपूर्णस्वरूपतः ॥१८॥

परापरस्य लोकोऽस्ति तत्र देवः परेश्वरः ।
अस्तित्वरूपतः सोऽयं पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१९॥

त्रिकूटे शक्तिलोकोऽस्ति परा शक्तिस्तु देवता ।
सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यपरावस्थात्मता तनौ ॥२०॥

पिण्डे सप्ततलानि स्युर्लोकाश्चात्रैकविंशतिः ।
वृत्ते विप्रो नृपः शौर्य्ये उद्यमे विड् भयेङ्घ्रिजः ॥२१॥

स्युर्जम्बूशाल्मलीप्लक्षकुशक्रौञ्चकगोमयाः ।
श्वेतोमज्जास्थिनाडीषु मांसे त्वचि कचे नखे ॥२२॥

मूत्रं शुक्रं कफो मेदो वसा प्रस्वेदरेतसी ।
क्षारेक्षुदधिसर्पींषि मधुवारिपयांसि च ॥२३॥

नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।
अथ शैलादिकान् ब्रूमो यथाभागमवस्थितान् ॥२४॥

मेरुदण्डे मेरुरस्ति कैलासो ब्रह्मशङ्खके ।
पृष्ठे हिमाद्रिर्मलयो वामेंऽशे मन्दरः परः ॥२५॥

विन्ध्याद्रिर्दक्षिणे कर्णे वामे मैनाकपर्वतः ।
श्रीपर्वतो ललाटे स्यादेवमष्टौ कुलाचलाः ॥२६॥

चतुःषष्टिर्मता वर्णा योगिन्यः सकलास्तथा ।
हस्ताङ्गुलिषु राजन्ते सर्व एवोपपर्वताः ॥२७॥

गङ्गा सरयूर्यमुना चन्द्रभागा सरस्वती ।
वितस्ता शतरुद्रा च नर्मदैरावती शिराः ॥२८॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नद्यो याः परिकीर्तिताः ।
अन्या नद्युपनद्याद्यास्ता ज्ञेयास्तत्त्वदर्शिभिः ॥२९॥

नक्षत्रराशिग्रहतारकाणि तथा तिथीनां वलयेऽत्र कोष्ठाः ।
द्वासप्ततिर्ये विलसन्ति तेषु निवासमाहुः श्रुतितत्त्वविज्ञाः
॥३०॥

अनेकतारानेत्रान्तस्तेजःपुञ्जे कृताश्रयाः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा रोमकूपसमाश्रयाः ॥३१॥

अनेकमुनिसङ्घाताः कक्षरोमकृताश्रयाः
पीठोपपीठा येऽनेके श्मश्रुस्थाने वसन्ति हि ॥३२॥

भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा दैत्यास्तथा दानवाः
सर्वे कीकसमन्धिसङ्गतिकराः सन्तीति सिद्धोदितम् ।

नागा अक्षितनूरुहेषु सकला ये तूपनागा मताः
तेषामस्ति निवासभूमिरुदरप्रोद्भूतरोमोद्गमे ॥३३॥

नानाविधेष्ववयवेषु वसन्ति चान्ये
गन्धर्वकिन्नरगणाप्सरसोऽथ यक्षाः ।
याः स्युः परा इह सदा खलु देवताश्च
वाच्येषु रश्मिविततेषु समुल्लसन्ति ॥३४॥

खेचर्य्यो मातरश्चान्या डाकिन्याद्युग्रदेवताः ।
वायुवेगे वसन्त्यत्र जलदा अश्रुपातगाः ॥३५॥

मर्मस्थानेष्वनेकेषां तीर्थानामस्ति संश्रयः ।
मतिप्रकाशेष्वावासः सिद्धानामपि कीर्तितः ॥३६॥

सूर्य्यचन्द्रमसोर्वासो नेत्रद्वय उदीरितः ।
लतागुल्मतृणादीनां जङ्घारोमसु संश्रयः ॥३७॥

कृमिकीटपतङ्गाद्याः पुरीषे कृतसंश्रयाः ।
यत्सुखं स भवेत्स्वर्गो यद्दुःखं नरकं हि तत् ॥३८॥

निर्विकल्पो भवेन्मोक्षो निद्रादौ जागरोत्तरम् ।
स्वस्वरूपदशेत्युक्तं पिण्डसंवित्तिहेतवे ॥३९॥

अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ॥४०॥

॥ इति पिण्डसंवित्तिस्तृतीयोपदेशः ॥

अथ चतुर्थोपदेशः

पिण्डाधारमथो वक्ष्ये यज्ज्ञानादात्मतत्त्ववित् ।
पिण्डाधारो भवेच्छक्तिः चित्प्रबुद्धाऽपरम्परा ॥१॥

कार्यकारणकर्तॄणामुत्था(?)वस्थाकरं स्फुटम् ।
कर्त्तुं शक्नोति यत्तस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते ॥२॥

नानासूत्रस्वरूपेण पटे तन्तुर्यथाश्रयः ।
तद्वदाधारतां सेति देहे नानांशुभिर्जडे ॥३॥

अत्यन्तस्वप्रकाशैकवेद्याभावैकसाङ्ख्यभूः ।
प्रत्यक्षसाक्षिणी या तां भावयेदपरम्पराम् ॥४॥

सहजेनात्मलीना सा यदा सञ्जायते तदा ।
निरुत्थानदशेत्युक्ता शिवसंज्ञापि तत्र हि ॥५॥

कुलाकुलस्वरूपाऽसौ सामरस्यस्वभूमिका ।
सत्ताहन्ता परा भासा स्फुरत्ता च कुलाकुलम् ॥६॥

परस्परनिराभासभासि सम्यक् प्रकाशिका ।
पराभासैकमेवास्तीत्येका सत्ता निरुच्यते ॥७॥

अनादिनिधना मेयस्वभावांशुसुखाऽस्म्यहम् ।
इत्यहन्ताज्ञानदशा स्फुरणात्मा स्फुरन्तिका ॥८॥

शुद्धबुद्धस्वरूपस्य कलयत्यात्मवित्पदम् ॥
यतस्ततः कलेत्युक्ता कुलपञ्चकमस्त्यदः ॥९॥

वर्णगोत्रादिराहित्यादेकमेवाकुलं मतम् ।
उमामहेशसम्वादादर्थोऽयमवगम्यताम् ॥१०॥

तथा च—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम् ॥११॥

कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।
सा चापरम्परा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम् ॥१२॥

प्रपञ्चस्य समस्तस्य जाग्रद्रूपप्रवर्त्तनात् ।
एकैव कर्त्तुं यच्छक्ता तस्मादाज्ञेचरीह सा ॥१३॥

उक्तं ललितस्वच्छन्देन—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलाद्व्यवहृतिर्भवेत् ।
अतः कुलाकुलस्थित्यानीश ईशोपि शङ्क्यते ॥१४॥

अलुप्तशक्तिमान्नित्यस्सर्वाकारतया स्वयम् ।
प्रस्फुरन्तं पुनः स्वेन स्वयमेकं प्रपश्यति ॥१५॥

शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्तो न किञ्चन ।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्यभासाद्भासको भवेत् ॥१६॥

शक्तितत्त्वानन्दनित्यशक्तिमान् परमेश्वरः ।
सम्विद्रूपोऽस्ति विषय इति सिद्धिमतं सताम् ॥१७॥

परम्परास्वरूपा सा पिण्डाधारतया श्रुता ।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी ॥१८॥

बुद्धाऽबुद्धा द्विधा प्रोक्ता द्वितीया चेतनात्मिका ।
नानाविचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा ॥१९॥

सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनी मता ।
पूर्वास्तविकृतेः पुंसो निवृत्युद्यमरूपिणी ॥२०॥

ऊर्ध्वगामित्वमेतस्यामूर्ध्वाकुञ्चनतो भवेत् ।
तदप्याकुञ्चनं मूलाधारबन्धेन सिद्ध्यति ॥२१॥

चिदचिद्रूपमेतद्यज्जगद्भवति सन्ततम् ।
मूलाधारकसंवित्तिप्रसरत्वेन तन्मतम् ॥२२॥

मूलाधारादिसकलचक्रेषु नव शक्तयः ।
नाथेन यदपि प्रोक्तास्तथाप्येकास्ति तत्र सा ॥२३॥

शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती ।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते ॥२४॥

मलाधारे प्रबुद्धे तु सिद्धिर्भवति योगिनाम् ।
नियतोपाधिजीवात्मा वृथा भ्रान्तिरपि स्वयम् ॥२५॥

मध्ये स्वरूपतापन्नो यया सा मध्यकुण्डली ।
सूक्ष्मासूक्ष्मस्वरूपेण द्विविधा सा प्रतीयते ॥२६॥

निश्चला निश्चलग्राह्या स्थूलान्या ध्यानरूपिणी ।
अर्थान्तरपरिभ्रान्तिहेतुः सर्वस्वरूपिणी ॥२७॥

सर्वत्रास्तीति साकारा मध्यशक्तिः प्रकीर्तिता ।
सैव प्रसरसङ्कोचात्पर्य्यावृत्तिमुपागता ॥२८॥

नित्यानन्दतया लोला सूक्ष्माख्या तिमिराकृतिः ।
बुद्धेति सिद्धास्तामाहुः प्रसिद्धाः सिद्धवर्त्मनि ॥२९॥

तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृतः ।
यथा—
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा ॥३०॥

बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ॥३१॥

तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ।
ततः सूक्ष्मा परा संविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी ॥३२॥
स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता ।
प्रबोधनात्पिण्डसिद्धिस्तस्या भवति योगिनाम् ॥३३॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातोऽथ मुमुक्षूणां कृतेष्यते ।
सर्वतत्त्वोद्र्ध्ववृत्तित्वान्निर्नाम परमं पदम् ॥३४॥
तत्त्वसम्वेदसाक्षाद्भूः पिशुनोक्तोद्र्ध्वशक्तिका ।

निपातः स्वरवरूपे नित्यथा(?) निरसनं मतम् ॥३५॥
निरुत्थाने स्वस्वरूपाखण्डैव प्रतिभाति सा ॥३६॥

उक्तञ्च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥३७॥

नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥३८॥

अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचनासंविदेका विभाति
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति।
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे चतुर्थोपदेशः।

——:०:——

अथ पञ्चमोपदेशः

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥१॥

परपिण्डसुखं स्वपिण्डकान्तं प्रथमोक्तक्रमतो विधाय चित्ते ।
परमेण पदेन तस्य कुर्य्याद्रससाम्यं मतिमान् गुरूक्तिदृष्ट्या ॥२॥

परमं पदमात्मवेद्यमेकं निखिलात्यन्तविभासिमात्रमुक्तम् ।
अयमर्थ उदाहृतोऽस्ति दृष्टो जठराख्याधरसंहितानिबन्धे ॥३॥

यथा—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति सत्ता संवित्परा कला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥४॥

वाङ्मात्राद् गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसम्वेद्यं परं पदम् ॥५॥

नानाविचारचातुर्य्यचर्चाधिक्याद्घनाश्रयात् ।
निरुपाधितयोपाधिशून्यत्वात्तत्स्ववेद्यता ॥६॥

पारम्पर्य्याप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता ।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रामकारणम् ॥७॥

तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।
भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत् ॥८॥

तद्दृक्सरोजकरुणार्द्रकटाक्षपातात्
स्वात्मैकवेद्यकतया मुनिभिः स्वपिण्डम् ।
सर्वं स्वसिद्धिफलवर्गमपास्य लब्ध-
नैरुत्थ्यतः समरसं क्रियते कृतार्थैः ॥९॥

सिद्धान्तमेतमनुशास्य निरुत्थितिश्री-
लाभाभ्युपायकथने कुरुतेऽथ यत्नम्।
स्वस्वाशयप्रलयकर्ममुखानुसन्धे-
रावेशतो भवति कश्चन तत्र नैजः ॥१०॥

निजावेशान्निबिडतमनैरुत्थ्यविधिव-
न्महानन्दावस्था स्फुरति वितता कापि सततम्।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक-
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥११॥

साक्षात्तयास्य कलनात् स्फुरति प्रकामं
चैतन्यभासकमभिन्नमपारमङ्के ।
पुंसः पदं परमनाम समभ्युदेति
यस्यानुभूतिबलतो निजपिण्डवित्तिः ॥१२॥

विज्ञाय पिण्डमथ सम्यगिति प्रकारा-
दारात्पदे परमनाम नितं (?) विधाय।
ऐक्यं विधाय निजरश्मिपरावृतात्मा-
श्वभ्याससून्मिषिरुदेति ततो द्वितीया ॥१३॥

तदुन्मेषप्रत्याहरणभवमाहुः समरस-
क्रियाभूतं यस्मान्निजकिरणपुञ्जं निजतया।
प्रपश्यन्तस्तस्मान्निखिलमनुसन्धाय मुनयः
स्वरूपेऽङ्गीकृत्य स्वतःफलसिद्धयै व्यवसिताः ॥१४॥

मुनीनां पिण्डसंसिद्धौ सिद्धयः सन्ति सन्निधौ।
एतमर्थं विनिश्चित्य कश्चिच्छ्लोकेन चोक्तवान् ॥१५॥

यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं प्रसिद्धं भाति लीलया।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥१६॥

सहजं संयमयुतं सोपायं साद्वयं क्रमात्।
ज्ञानं संसाधयेत्तच्च स्वविश्रान्तिरितीरितम् ॥१७॥

विश्वातीतः परेशानो विश्वरूपेण तिष्ठति।
इत्येकं सहजं त्वन्यद्विश्वस्यात्मनि दर्शनम् ॥१८॥

प्रस्फुरद्रूपवृत्तीनां कृत्वा संयममात्मनि ।
यद्धारणं तदेवात्र ससंयममिति स्मृतम् ॥१९॥
प्रकाशमयमात्मानं स्वयमेव स्वरूपतः ।
एकीकृत्य सदा लौल्यात्स्थित्तिः सोपायशब्दभाक् ॥२०॥
अजातिमत्त्वदृक् प्राज्ञैः सा द्वितीयमिति स्मृतम् ।
चत्वार एते भावाः स्युः परमोदयहेतवः ॥२१॥
तथा च परमो योगी सुतृप्तो निर्विकल्पकः ।
सदा निरुत्थापनया तिष्ठतीति प्रसिद्धचति ॥२२॥
परमस्य पदस्याप्तौ साधनं केनचित्पुरा ।
यत्र श्लोकाष्टके प्रोक्तं तदिदं दृश्यतामिह ॥२३॥
सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः ।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥२४॥

ज्ञात्वैवं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न कर्तृत्वान्न विज्ञानान्न बलाद्वेदपाठनात् ॥२५॥

न ज्ञानान्न च वैलक्ष्यात्कर्त्रभ्यासान्न वासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्याद् घटनात्प्राणधारणात् ॥२६॥
न मुद्राधारणाद्वा स्यान्न मौनवचनाश्रयात् ।
औदासीन्यान्न निर्वाणान्न कायक्लेशमोचनात् ॥२७॥
न वास्यान्न च सन्देशान्न नानाव्रतधारणात् ।
न षड्दर्शनवेषादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥२८॥

अनन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम् ।
गुरुदृक्पातमात्राणां हठानां सत्यवादिनाम् ॥२९॥

कथनाद् दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥३०॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सार्द्धश्लोकद्वयोक्तितः ॥
श्रीगुरोर्लक्षणं प्राह यज्ज्ञानान्मुच्यते भयात् ॥३१॥

सम्यगानन्दजननं सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥
निमिषार्द्धं तदर्द्धं वा यद्वाक्यस्यावलोकनात् ।
आत्मानं स्थिरमाप्नोति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३२॥

नानाविकल्पविश्रान्तिं कथनात्कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविकल्पकः ॥३३॥

परपदमधिगन्तुमुत्सुकानां
यदमलदृक्करुणाकटाक्षमाला ।
जयति दृढतराधिरोहणश्रीः
परमनिधिः स ममास्ति देशिकेन्द्रः ॥३४॥

सम्यक्चैतन्यविश्रान्तेरुपदेशस्तु सम्मतम् ।
यथा स्यात्सामरस्याख्यं तत्परं परमं पदम् ॥३५॥

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ ।
नान्यस्मिन्बहुवादतर्कमकरोच्छालातिभीतिप्रदे
दुर्भेदभ्रमधारकेऽतिकठिने क्षारोदधौ लौकिके ॥३६॥

उपदेशो निगरणपदवाच्यतयोच्यते ।
तत् करोति यतस्तस्माद् गुरुरित्यभिधीयते ॥३७॥

गुरुदोषगुणनिरूपणपुरःसरं गुरुसेवाफलं
विंशतिश्लोकैः कश्चिदाह —

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः ।
स्वविश्रांतिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥३८॥

शिलायाः किं परं पारं शिलासङ्घात्प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ स परं तारयत्यलम् ॥३९॥

विकल्पजागराद् घोराच्चिन्ताकाले न दुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनावर्त्तात्कलाजालसमाकुलात् ॥४०॥

वासनालहरीवेगात्स्वस्थस्तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थैर्येणोपदेशेन लोनो(?)त्थानेन तत्क्षणात् ॥४१॥

परानन्दमयो भूत्वा निश्चयः स्थिरतां व्रजेत् ।
कुलानि कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥४२॥

धारयत्येव दृक्पातात्कथनाद्वावलोकनात् ।
तारणेच्छुर्वरं दत्ते स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥४३॥

अतोऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत् ॥४४॥

सर्वाङ्गप्रणिपातेन शिक्षां कृत्वा गुरुर्भवेत् ।
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ॥४५॥

लब्धविश्रामवित्तानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्यनिमग्नानां निरुत्थानां विशेषतः ॥४६॥

निमिषार्द्धात् स्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
तस्मिन्पिण्डे भवेल्लीनं सहसा नात्र संशयः ॥४७॥

लीने पिण्डे भवेद्योगी सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
इच्छावेगी स्वयं कर्त्ता लीलयैवाजरामरः ॥४८॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चयो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥४९॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभाषितम् ।
प्रथमे रोगनिर्मुक्तः सर्वलोकप्रियो भवेत् ॥५०॥

काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मा गूढस्य नित्यशः ।
द्वितीये वत्सरे काव्यं कुरुते तत्त्वभाषया ॥५१॥

प्रजायते दिव्ययोगी दूरश्रावी न संशयः ।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ॥५२॥

षड्भिर्न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।
वायुवेगो क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ॥५३॥

महासिद्ध्यष्टकं सम्यगष्टमे वत्सरे भवेत् ।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ॥५४॥

दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र गच्छति ।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत् ॥५५॥

द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत् ।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं भैरवभाषितम् ॥५६॥

एवं द्वादशवर्षे तु सिद्धयोगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रसादान्नात्र संशयः ॥५७॥

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः ॥५८॥

अनन्यभावेन निरुत्थितिश्रीलाभेन चाञ्चल्यविधूननेन ।
अवस्थितिः श्रीकरुणासुधाब्धिगुरुप्रसादाद्भवतीति सत्यम् ॥५९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डपरमपदयोः समरसकरणं
नाम पञ्चमोपदेशः ।

अथ षष्ठोपदेशः

निरूप्य सर्वं विषयमधिकारी निरूप्यते ।
अवधूतो भवेत्सोऽत्र तल्लक्षणमिदं यथा ॥१॥

प्रकृतिजन्यविकारविधूननं कलयितुं भजतीह समर्थताम् ।
यदवधूततया तदुदीर्यते रचितसंसृतिपारगतिर्जनः ॥२॥

लक्षणान्तरमप्याह कश्चित् –
केशपाशतरङ्गाणां व्रजं येन विकुण्ठितम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥३॥

सकलोच्चं स्थिरं पीनं संवेद्यं वासनोक्तितम् (?) ।
कौपीनकं कटौ यस्य सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥४॥

कस्य भावमयैः सूत्रैः स्वीकारस्थैर्य्यतां गतैः ।
कन्था विरचिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

मुक्तिद्वारे मतिर्यो वै प्राप्तकोषप्रकाशकः ।
मायाविकारानापन्नः स सात्त्विक उदाहृतः ॥६॥
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योममग्नो यस्तस्मात् क्षपणको भवेत् ॥७॥

भ्रान्तिकौरं जनं कृत्वा यो रक्तविवरे सदा ।
प्रबुद्धो यः स्वयं बुद्धः सद्यः सोऽत्राभिधीयते ॥८॥

प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥९॥

विश्वातीतं यदा विश्वमेकमेवावभासते ।
संयोगेन यदा यस्य सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥१०॥

सर्वासां निजवृत्तीनां विसृतिं भजते तु यः ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥११॥

उदासीनवदासीनः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥१२॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वप्रदोऽपरः ।
निरुत्थो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१३॥

गतेन शोकेन भयेन वीप्साप्राप्तेन हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाधते कालपथो न नित्यम् ॥१४॥

एतेषामुपदेशानां सूचितानां पृथक् पृथक् ।
जायते तत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिश्च जायते ॥१५॥

यो गङ्गापदपद्मभक्तिविमलः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः
चञ्चच्छारदचन्द्रिकासहचरीं कीर्त्तिन्नयन्विष्टपे ।
शौर्य्यौदार्यमुखैर्गुणैरविरलैरालम्ब्यमानोऽनिशं
स श्रीकृष्णविभुः स्मरारिनगरे ग्रन्थं मुदाचीकरत् ॥१६॥

कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तुष्यतु ॥१७॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहेऽवधूतादिलक्षणः षष्ठोपदेशः ।

अथ सप्तमोपदेशः

चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
सर्वे सन्धिरताः सदैव परताधानाश्रिताः सात्त्विकाः ।
कर्त्तारं प्रभजन्ति चैव यमनाः पापे रता निर्दया-
स्तेषामैहिकमल्पमेव हि सुखं सत्यं न मोक्षः परम् ॥१॥

सीहट्टे मस्तकान्ते त्रिकुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथवरे घण्टिकाराजदण्डे ।
कण्ठे हृन्नाभिमूले त्रिकमकुहरे ह्युड्डियानेऽथ शूले
ये त्वेवं स्थानमग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥२॥

आदौ पूरककुम्भरेचकविधौ नाडीपथं शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे च सहसा चित्तं समं मूर्छितम् ।
तस्मादव्ययमक्षयं परकलं चोङ्कारदीपं शुभं
ये पश्यन्ति समाहिताः पदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥३॥

गोहाटे दीप्तिपुञ्जं प्रलयशिखिनिभं सिन्धुजालन्धरे च
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाडयन्तराले ।
कालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं संशयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥४॥

लिङ्गाच्चण्डाकुलान्ते मनपवनगमे(?) ब्रह्मग्रन्थ्यादिभेदे
कृत्वा बिन्दुं नयन्ते भ्रमरपदमहाशङ्खमम्भोदरोधे ।
नेत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण
ये कुर्वन्तीह कष्टात्परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥५॥

सम्यक्चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
ताल्वभ्यन्तरदर्शितान्तदशमद्वारोदरे शङ्खिनीम् ।
प्राप्तां मध्यमसम्पुटे (?) पुटां सप्तादर्शी कोटरां
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः ॥६॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुद्धानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा-
घेनास्यैव नयन्ति ये भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः ॥७॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीपकरणं चाधारसम्पीडनात्
ज्ञात्वा कुण्डलिनीप्रबोधनमनो नादादिना मूर्द्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमनः कुर्वन्ति ये स्वाश्रये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां ह्यदूरं परम् ॥८॥

बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुकं मध्यमार्गं सुषुम्णां
चन्द्रार्के सामरस्यं शमदमनियमैर्नादबिन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनो योगयुक्तं
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखौघभाजः ॥९॥

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेद-
मूर्ध्वाधो बाह्यमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।
दृष्ट्यग्रे वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं तमो वा
एवं ये भावयन्ते विमलमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥१०॥

आदौ सारणशङ्खसारणमतः कृत्वा महासारणं
सम्पूर्णं प्रतिसारणं विधिबलाद्दृष्टिस्तथा निर्मला ।
आज्ञालो हठयोगयोगकलया सद्दीप्तसन्तूलिकां
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति बाधन्ति च ॥११॥

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठलीलासमं
वीते तूल्लुठनं कवाटममरीपानं त्रिधा खर्परी ।
वीर्य्यंद्रावितमात्मजं विकलये ग्रासं च लेपञ्च वा
कुर्वे तीर्थजले स्यात् (?) तेन हि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥१२॥

घण्टाकालहमर्द्दलं त्वथ महाभेरीनिनादं यथा
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम् ।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथ वा
तेषां सिद्धमतेस्कतेः(?) समुदितं सत्यं परं लभ्यते ॥१३॥

वैराग्यामृतपल्लवेन सलिलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेकदेशान्तरे ।
स्थित्वा सादितनिश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो स्वं पदम् ॥१४॥

इति श्रीसिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे सप्तमोपदेशः समाप्तिमगमत् ।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	४	पुष्टये	तुष्टये
,,	७	कार्य्यकारणकर्तृत्वं	कार्य्यकारणकर्तृत्वं
,,	१२	अर्धामात्रा	अर्धमात्रा
,,	१६	अव्थक्तता	अव्यक्तता
२	३	निरन्तरत्वं	निरन्तरत्वं
,,	१७	अक्षयत्वके	अक्षयत्वेक
,,	२२	स्वर्गगत्वम्	सर्वगत्वम्
४	१६	नथा	तथा
,,	२३	ल्युः	स्युः
,,	२५	ममत्दं	ममत्वं
,,	,,	वर्तिनः	वर्त्तिनः
५	२	हर्षौ	हर्षौ
,,	२१	काल	काम
,,	२२	इति	रति
६	१	समुच्लत्व	समुच्चलत्व
,,	११	फला	कला
,,	१५	द्व	द्वे
८	२	अस्थाम्	अस्थ्नाम्
१०	२५	निरोघयेत्	निरोधयेत्
१२	६	नावाग्रतो	नासाग्रतो
,,	१३	ऊर्द्ध	ऊर्द्ध्व
१५	१	यीगि	योगि
,,	१३	वण्डाग्रे	दण्डाग्रे
,,	१८	स्वमावो	स्वभावो
१६	४	स्वनाव	स्वभाव

१६	६	सनातनत्ब	सनातनत्व
,,	,,	अविकृत	अधिकृत
,,	१०	घरः	धरः
,,	१७	अस्त्ति	अस्ति
,,	२२	परिपूर्णं	परिपूर्ण
,,	२६	सर्वकर्तृत्द	सर्वकर्तृत्व
२०	२	निर्धमंत्वाद्	निर्धमत्वाद्
२१	१	चक्रषु	चक्रेषु
,,	५	मलाधारे	मूलाधारे
२५	४	स्थित्तिः	स्थितिः
३१	१२	तेपां	तेषां
३२	१२	ह्यदूरं	हि दूरं
,,	२३	आज्ञालो	आज्ञाली

श्लोकानुक्रमणी

—o—

